1

डॉ० बालमुकुन्द गुप्त

उपरि काव्य कौस्तुभ

ALWAYS WITH YOU
BOOK DEPOT
FOR
NEW & OLD
Technical University College
General & Competitive
Pacca Danga
AMML
Banks

रंजन प्रकाशन, आगरा-३

दो शब्द

'कबीर-काव्य-कौस्तुभ' एम. ए. कक्षाओं के निमित्त प्रस्तुत महात्मा कबीर-
की कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन है। एम. ए. कक्षाओं में कबीर के
यन-अध्यापन के लिए कहीं सम्पूर्ण कबीर-ग्रन्थावली और कहीं केवल साखियाँ ही
यक्रम में निर्धारित हैं। सम्पूर्ण कबीर-ग्रन्थावली का अध्ययन पाठ्यक्रम के आकार
दृष्टि से अत्यधिक है और साखियों मात्र का अध्ययन कबीर सम्बन्धी ज्ञान को एकांगी
देता है। अतः समय समय पर अनेक सहयोगियों ने पाठ्यक्रम की इस त्रुटि की
ध्यान आकर्षित किया है और इस बात पर विशेष बल दिया है कि कबीर के सम्यक्
यन-अध्यापन के लिए कबीर की चुनी हुई साखियों एव पदों का एक उपयुक्त संकलन
न्त ही आवश्यक है। इस संग्रह का निर्माण इसी त्रुटि के परिहार-स्वरूप हुआ है।
में कबीर की १५० साखियाँ और ५० पद बड़ी सतर्कता एवं सम्यक् दृष्टि से संगृहीत
गए हैं।

संकलन को विशेष उपयोगी बनाने के लिए प्रारम्भ में एक आलोचनात्मक प्रस्ता-
और अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत अध्ययन-सूत्र के रूप में पारिभाषिक शब्दावली,
न शब्दों एवं स्थलों का स्पष्टीकरण और कबीर के विशेष अध्ययन सम्बन्धी ग्रन्थों
एक सूची भी दे दी गई है। प्रस्तावना एवं अध्ययन के सूत्रादि लिखने में अनेक विशिष्ट
ानों के ग्रन्थों का सहारा लिया गया है। लेखक उन सभी के प्रति अपनी हार्दिक
ता प्रकट करता है।

विश्वास है कि कबीर-काव्य-कौस्तुभ कबीर के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से
योगी एवं लाभदायक सिद्ध होगा और छात्र-छात्राओं में कबीर की कविताओं के
सच्ची अभिरुचि उत्पन्न करेगा।

—बालमुकुन्द गुप्त

VINOD BOOK DEPOT OLD & NEW Medical Technical University (Central) Composition College Books JAMMU-180001 DANGA

61

अनुक्रम

१. प्रस्तावना ७-३४

कबीरदास—

जीवनवृत्त ९

व्यक्तित्व १०

परिस्थितियाँ एवं प्रभाव ११

कबीर-साहित्य १३

सिद्धान्त एवं साधना १४

समन्वयवाद १९

रहस्यवाद २०

प्रतीक योजना २२

उलटवांसी २३

काव्यत्व २४

भाषाशैली २८

मूल्यांकन ३१

२. संकलित साखियाँ और पद ३५-७०

३. परिशिष्ट : अध्ययन के सूत्र ७१

(क) **पारिभाषिक शब्दावली :** हठयोग, षट्दल, षटचक्र, नाद और विन्दु, अनहदनाद, अजपाजाप, शून्य, सुरति, निरत; उन्मनी, सहज, त्रिकुटी, त्राटक, भंवरगुफा, कौल।

(ख) कठिन शब्दों एवं स्थलों का स्पष्टीकरण

(ग) विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी ग्रन्थ-सूची

प्रस्तावना

कबीरदास

●

कबीरदास हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है और इनका काव्य अत्यन्त ही लोकप्रिय है। इनकी साखियाँ, पद और गीत जनता की जिह्वा पर चढ़े हुए हैं। इनका व्यक्तित्व अलौकिक और महान् है। दुःख है कि ऐसे महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी हमारी जानकारी नगण्य है और कबीर का जीवनवृत्त अन्धकारमय है। उनके आविर्भावकाल, नाम, जाति, जन्मस्थान, मृत्यु, धार्मिक सिद्धान्तों आदि के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत प्रकाश में आये हैं, अतः उनके सम्बन्ध में असंदिग्ध रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जीवन वृत्त

कबीर के जीवनवृत्त सम्बन्धी विविध पक्षों पर अनेक धार्मिक सन्तों, इतिहासकारों, विद्वानों एवं आलोचकों ने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इनमें नाभादास, डॉ० हण्टर, ब्रिग्स, विल्सन, मौनियर, मेकालिफ, स्मिथ, वेस्टकाट, मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० बड़थ्वाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० मोहन सिंह, डॉ० त्रिगुणायत, बाबू गुलाबराय, डॉ० सत्येन्द्र आदि के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

इतिहास ग्रन्थों के आधार पर यह स्थापित किया गया है कि कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे।

'कबीर चरित बोध' के अनुसार कबीरदास की जन्मतिथि सम्वत् १४५५ वि० ज्येष्ठ सुदी पूर्णमासी, सोमवार निश्चित होती है। यद्यपि बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने इसे १४५६ माना है परन्तु अधिकांश विद्वान् १४५५ को ही उनका जन्म सम्वत् मानने के पक्ष में हैं क्योंकि ज्योतिष गणना के अनुसार १४५५ में तिथि एवं वार की शुद्ध संगति बैठती है। जन्मतिथि की भाँति ही उनकी परम पद प्राप्ति तिथि के सम्बन्ध में भी तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार सम्वत् १५७५ में, दूसरे के अनुसार सम्वत् १५०५ तथा तीसरे के अनुसार सं० १५५२ में उन्हें अमरत्व प्राप्त हुआ, किन्तु प्रथम मत के अनुयायियों की संख्या ही सर्वाधिक है।

कबीर साहब की जाति के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार दो मत है। एक उन्हें विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न बतलाता है और दूसरा उन्हें मुस्लिम जुलाहा मानता

हैं। दोनों पक्ष अपने अपने मत के समर्थन में उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, परन्तु निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर कबीर साहब के जन्म से मृत्युपर्यन्त मुसलमान मानने की युक्तियाँ अधिक युक्ति-संगत जान पड़ती हैं।

परम्परानुसार कबीरदास जी का जन्म-स्थान काशी नगरी ही कहलाता है। स्वयं कबीर साहब की रचनाओं से भी इसकी पुष्टि होती है यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से काशी को कहीं भी अपना जन्म-स्थान नहीं कहा है। फिर भी "तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा", "सकल जनम सिवपुरी गँवावा" आदि अवतरण उनके काशी-वासी होने की पुष्टि करते हैं। डॉक्टर रामकुमार वर्मा "पहले दर्सन मगहर पायो, पुनि कासी बसे आई" के आधार पर मगहर को उनकी जन्म-भूमि मानने के पक्ष में हैं किंतु अधिकतर विद्वान काशी को ही उनका जन्म-स्थान मानते हैं।

कबीर साहब के दीक्षागुरु के सम्बन्ध में भी कई मत हैं। एक दल उन्हें स्वामी रामानन्द का शिष्य मानता है। कबीरदास ने "स्वयं काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये" की घोषणा करके रामानन्द के शिष्य होने की पुष्टि की है फिर भी कुछ विद्वान जैसे पं० परशुराम चतुर्वेदी इस मत की सत्यता पर सन्देह करते हैं। दूसरा दल मीर तकी को उनका गुरु बतलाता है किंतु कबीर ने कहीं भी मीर तकी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट नहीं की है जो कबीर जैसे गुरु-भक्त से अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य थी।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने "गोमती तीर निवासी किसी पीताम्बर पीर" को उनका दीक्षा गुरु होने की सम्भावना की ओर संकेत किया है। इस सम्बन्ध में उपलब्ध साक्ष्य इतना सबल नहीं है कि उसके आधार पर निर्विवाद रूप से किसी को भी उनका गुरु सिद्ध किया जा सके फिर भी परम्परा एवं स्वोक्तियों के आधार पर रामानन्द को ही उनका गुरु मानना अधिक समीचीन है।

कबीर साहब का पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण था—ऐसा प्रसिद्ध है। उनकी माता उनकी साधना-पद्धति को कुल मर्यादा के विपरीत समझकर उनसे रुष्ट रहा करती थीं। साधारण गृहणी की भाँति उन्हें परिवार-पोषण की चिन्ता थी और कबीर साहब की फक्कड़ वृत्ति उसके अनुकूल न थी। कबीर के एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली थी। पुत्र कमाल से भी उनकी पटती न थी। उनकी स्त्री का नाम लोई था। लोई साधारण भारतीय गृहणी रही होगी। उसने प्रत्यक्ष रूप से पति की आज्ञापालन, उनकी सेवा एवं उनके सुख में अपना सुख माना होगा। फलतः कबीर साहब ने स्पष्ट रूप से कहीं भी लोई की आलोचना अथवा भर्त्सना नहीं की है.

व्यक्तित्व

कबीर का व्यक्तित्व अत्यन्त महान् एवं जटिल है। एक ओर वे परम संतोषी, उदार, निर्भीक, बाह्याडम्बर विरोधी, सात्विक प्रकृति वाले सन्त थे, दूसरी ओर वे

नाथपन्थियों तथा योगियों के सिद्धान्तों पर भी गहरा विश्वास रखते थे। वे मस्तमौला फक्कड़-फकीर एवं स्वभाव के क्रान्तिकारी थे। उनकी प्रतिभा प्रखर तथा उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सशक्त था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें विद्यमान थी इसलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके।"

परिस्थितियाँ एवं प्रभाव

ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि कबीर तत्कालीन प्रश्नों के समाधान के रूप में जन्मे, तात्कालिक परिस्थितियों ने उनके व्यक्तित्व को प्रखरता, उनकी वाणी को बल एवं उनके प्रचार को प्रभुविष्णुता प्रदान की। जिस प्रकार वर्तमान काल की विदेशी शक्ति द्वारा पीड़ित, प्रताड़ित भारतीयता की आशाओं-आकांक्षाओं की पार्थिव अभिव्यक्ति महात्मा गाँधी के रूप में हुई उसी प्रकार मध्यकाल का आन्तरिक हाहाकार कबीर के रूप में मूर्त हो उठा। वास्तव में, कबीर अपने युग की कृति हैं। तात्कालिक परिस्थितियों ने ही उन्हें दिव्यदृष्टि दी, साहस दिया और दी जनता को प्रभावित कर उसे सम्यक् गति, उचित लक्ष्य एवं साहस-समन्वित करने की क्षमता। इसी कारण अपनी समस्त क्लिष्टता, अनगढ़ प्रयोग, भाषा के साथ मनमानी करने पर भी आज कबीर केवल आदरणीय ही नहीं प्रत्युत जन-प्रिय भी हैं।

कबीर के व्यापक व्यक्तित्व निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों, विभिन्न सम्प्रदायों एवं सामाजिक संघर्षों ने प्रचुर योग दिया है। सामान्यत: कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के दो पक्ष हैं—(१) सामाजिक और (२) आध्यात्मिक। कबीर साहब का सामाजिक स्वरूप उनके जन्म-युग की परिस्थितियों तथा जातिगत वातावरण से प्रभावित है। इसीलिए उसमें समस्त सामन्ती आचार-विचार, संस्कृति एवं जीवन पद्धति के प्रति विद्रोह के सशक्त स्वर उभरे हैं। उनके आध्यात्मिक स्वरूप के निर्माण में अध्ययन ने नहीं संगति ने समस्त ताना-बाना जुटाया है। इस स्वरूप के निर्माण में सिद्ध जैनों, नाथों, वैष्णव भक्तों, महाराष्ट्र के सन्तों, इस्लाम के एकेश्वरवादियों, सूफी मतावलम्बी प्रेम-दिवानों, अद्वैतवादियों आदि सभी का बहुमूल्य योगदान है। कबीर की योग-साधना, षट्-चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का वर्णन सिद्धों एवं नाथों द्वारा मोदित है। गुरु-महत्ता भी कबीर ने सिद्धों एवं योगियों से ली है किन्तु अनुगति ोधी कबीर ने दोनों ही मान्यताओं में अपना योग देकर उन्हें मौलिक बना लिया। -साधना में प्रेमाभक्ति और गुरु-महत्ता में गुरु-अनिवार्यता का समावेश कबीर की नी देन है और इसी कारण कबीर की योग-साधना सिद्धों और नाथों की होकर भी की निजी है और जन-मानस एवं भारतीयता के अधिक अनुकूल भी।

सिद्धों एवं नाथों के उपरान्त दूसरा प्रबल प्रभाव जो कबीर पर पड़ा वह था वैष्णवों के प्रेम-प्रधान भक्तित्व का। इस भक्ति की प्राप्ति उन्हें स्वामी रामानन्द से हुई। इसी प्रेमाभक्ति के प्रभाव से कबीर नाथों एवं सिद्धों की परम्परा से पृथक खड़े हो जाते हैं। भक्ति की रसवत्ता ही कबीर के अक्खड़, कभी न दबने वाले व्यक्तित्व में कोमलता का संचार कर उसमें शील का सन्धान करती है और अक्खड़ कबीर, "मैं कहता हूँ आँखों देखी" का दर्प घोष करने वाले कबीर, कोमल होकर "मोसो कौन छोटो" के शिष्ट स्वर संलापी तुलसी से भी आगे बढ़ कर "कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाँउ, गलै राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउँ", कहते हुए सुने जाते हैं। कबीर-काव्य में शील, क्षमा, दया, उदारता आदि उदात्त गुणों का समावेश वैष्णव भक्ति के प्रभाव द्वारा ही सम्भव हुआ है। वैष्णव-भक्त स्वामी रामानन्द से प्रभावित होने के कारण ही कबीर ने लोकभाषा को ही अपनी विचार-वाहिका बनाया है।

कबीर वस्तुतः योगियों और वैष्णव सगुण भक्तों के बीच की कड़ी हैं और उन्होंने सारे मध्ययुग की धार्मिक एवं साहित्यिक चेतना को प्रभावित किया है।

कबीर की प्रेम-पीर को कुछ आलोचक सूफीवाद की देन मानते हैं, किन्तु कबीर ने कदाचित प्रेम-पीर की तीव्रता-मात्र ही सूफीमत से ग्रहण की है क्योंकि इनके प्रेम में न तो क्षणे-क्षणे इल्हाम होता है और न यह केवल प्रियाभिमुखी हैं। कबीर ने परमात्मा को केवल प्रिय के रूप में ही नहीं अपितु माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में अपने प्रेम का अवलम्ब माना है। सूफी सम्प्रदाय में इन सब रूपों के स्वीकार करने की स्वतन्त्रता नहीं। दूसरे सूफी सम्प्रदाय में परमात्मा 'माशूक' (प्रेमिका) और जीवात्मा 'आशिक' (प्रेमी) है, किन्तु कबीर में राम-परमात्मा पीव, प्रेमी, आशिक और कबीर जीवात्मा, बहुरिया, प्रेमिका या माशूक के रूप में है। कबीर का परमात्मा-जीवात्मा-सम्बन्ध भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। अतः कबीर की मिलन-व्याकुलता की तीव्रता मात्र ही सूफी सम्प्रदाय की देन स्वीकार की जा सकती है।

इसी प्रकार कबीर के एकेश्वरवाद को इस्लाम की देन कहना भी बहुत-कुछ भ्रान्तिपूर्ण है। इस्लाम का ब्रह्म या अल्लाह व्यक्तित्व-सम्पन्न है। उसका निश्चित निवास-स्थान सातवें आसमान पर है, पर कबीर का निर्गुण नाम-रूप-हीन है और कण-कण में व्याप्त है। कबीर का बाह्याचार विरोध या मूर्ति-पूजा का खण्डन इस्लाम अनुप्रेरित नहीं माना जा सकता क्योंकि उतनी ही तीव्रता से उन्होंने रोजा-नमाज आदि मुसलमानी पूजा-पद्धतियों का भी विरोध किया है। अवश्य ही जाति-पाँति के विरोध को धार्मिक क्षेत्र से उतार कर सामाजिक क्षेत्र में भी उसकी व्यर्थता, अनौचित्य का प्रतिपादन करने की प्रेरणा उन्होंने इस्लाम से ग्रहण की होगी; क्योंकि धार्मिक क्षेत्र

में तो हिन्दू भी सबको समान मानता है, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में उसे यह समानता स्वीकृत नहीं थी। वह वर्ण-व्यवस्था का हामी था। कबीर ने कदाचित इस्लाम से प्रेरणा लेकर हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था पर अगणित, अत्यन्त तीव्र एवं तीक्ष्ण प्रहार किये हैं।

इस प्रकार समस्त सारपूर्ण धार्मिक साधनाओं से अभिलषित तत्त्वों का संचय कर कबीर ने अपने भव्य एवं बलिष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण किया है। समस्त साधनाओं के सूत्रों को अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व में एकरस कर उन्होंने एक अभिनव साधना-पद्धति, एक सबल जीवन-पद्धति की आधार-शिला स्थापित की जो सैकड़ों वर्षों से भारत एवं भारतीयों का मार्ग-प्रदर्शन एवं मानस-पुष्टि कर रही है।

कबीर-साहित्य

कबीर-साहित्य का परिमाण अनिश्चित है। कबीर-पंथियों द्वारा कबीर साहित्य अनन्त और विशाल ठहराया जाता है। विल्सन साहब कबीर-कृत ग्रन्थों की संख्या ८, वेस्टकाट ४२, मिश्रबन्धु ७५, डॉ० रामकुमार वर्मा ६१ और रामदास गौड़ ७१ मानते हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के विवरणों के आधार पर कबीर १३० ग्रन्थों के रचयिता ठहरते हैं। इनके अतिरिक्त भी कबीर के नाम पर देश में सहस्रों बानियाँ प्रचलित हैं। कुछ बानियों का संग्रह आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी किया है और कबीर की अनेक बानियाँ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा भी प्रकाशित हुई हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी कबीर के १०० पदों का एक संग्रह संपादित किया है और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपनी पुस्तक 'कबीर' के अन्त में कबीर की रचनाओं का एक संकलन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कबीर के नाम पर एक विस्तृत साहित्य उपलब्ध है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीर साहित्य की परख' नामक पुस्तक में पंचबानी, आदिग्रन्थ, कबीर-ग्रन्थावली, कबीर-बीजक, सर्वंगी आदि ग्रन्थों को कबीर की उपलब्ध रचनाओं में गिनाया है। इतने विशाल साहित्य में से यह निश्चित करना कि कबीर की वास्तविक बानियाँ कौन-सी हैं—बड़ा कठिन है। फिर भी, अधिकांश विद्वानों ने इनकी बानियों के तीन संग्रह—कबीर ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी), आदिग्रन्थ और बीजक को प्रामाणिक माना है।

कबीर का अधिकांश साहित्य साखी, पद और रमैनी के रूप में प्राप्त है। 'साखी' संस्कृत 'साक्षी' शब्द से बना हुआ माना जाता है। साखियाँ रचनाकार के स्वानुभूत सिद्धान्तों एवं तथ्यों का वर्णन करती हैं। इसी कारण सन्तों के उपदेशात्मक साहित्य में 'साखियों' को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त है और कबीर के भक्त शिष्यों ने सबसे विशाल संकलन भी उनकी साखियों का ही किया है।

साखियों की रचना प्रायः दोहा छन्द में हुई है किन्तु कबीर की साखियाँ सोरठा आदि अन्य छन्दों में भी उपलब्ध होती हैं।

कबीर की रचनाओं में एक अन्य प्रयुक्त काव्य विधा जो बहुत ही प्रसिद्ध है, 'पद' अथवा 'शब्द' है। इसे कहीं-कहीं 'बानी' भी कहा गया है। पदों की रचना आदिकाल से होती चली आई है। बौद्ध सिद्धों की चर्यागीतियों में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

कबीरदास के पद या शब्द भी गेय हैं। वे गीत हैं और प्रायः भजनों में सम्मिलित किये जाते हैं। पदों के लिये प्रयुक्त शब्द या बानी शब्द ऐसा संकेत करते हैं कि 'पद' महात्माओं के स्वतः स्फूर्त उद्गार हैं जिन्हें वे स्वान्तःसुखाय गाते थे। उनमें 'साखी' की उपदेश-भावना की अपेक्षा नहीं रहती और न उसकी उपेक्षा ही की जाती है। भावावेश का वेगवान प्रवाह होने के कारण पदों में स्वाभाविक गति एवं गेयता आविर्भूत हो जाती है। आकार के विचार से ये छोटे-बड़े प्रत्येक प्रकार के हैं। कबीरदास के एक ही पद में नाना छन्दों का समावेश दृष्टिगत होता है। एक ही छन्द का पूर्ण पद में प्रयोग प्रायः कम है। जहाँ सार, रूपमाला, ताटंक एवं विष्णुपद छन्दों का प्रयोग है वहाँ बहुधा पूरे पद को एक ही छन्द में बाँधा गया है।

रमैनी को 'रामणी' यथा 'रामायण' का बिगड़ा हुआ स्वरूप माना गया है। रमैनियों की रचना दोहा-चौपाइयों में की गई है। रमैनी का प्रयोग स्तुति वर्णन, उपदेश-वर्णन या लोकोपकार के लिये किया गया है।

सिद्धान्त एवं साधना

कबीर बहुश्रुत एवं बहुज्ञ थे, किन्तु शिक्षित नहीं थे। फलतः उन्होंने कहीं भी अपने सिद्धान्त एवं साधना-पद्धति की विस्तृत एवं सुव्यवस्थित व्याख्या नहीं की है। कबीर के शिष्यों द्वारा संकलित उनके नैसर्गिक भावोच्छ्वासों के जागरूक परीक्षण द्वारा ही कबीर के सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु उनके व्यक्तित्व की भाँति ही उनके सिद्धान्त भी उलझे हुए हैं। उन्होंने यद्यपि अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, परन्तु अपने सिद्धान्त एवं साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत नहीं की और पगे-पगे उनका स्वाधीन चिंतन प्रतिफलित हुआ है।

सामान्यतः कबीर निर्गुण ब्रह्म में आस्था रखते हैं। उनका ब्रह्म कण-कण एवं घट-घट में व्याप्त है और साधक को कस्तूरी मृग के समान उसके अस्तित्व का अनुभव होता रहता है। उन्होंने अनेक स्थलों पर राम और कहीं-कहीं शंकर, ब्रह्मा आदि क. भी नाम लिया है परन्तु ये शब्द कबीरदास के काव्य में निर्गुण ब्रह्म के ही वाचक हैं। उनका ब्रह्म 'परमतत्व' है। इसका वर्णन सम्भव नहीं है। इसीलिए कबीर उसके

लिए तत्, परमतत, अनूप-तत, निजतत, काय, सबद, परमपद, अभैपद, सहज, सुन्न, सति, ज्ञान, अनन्त, उनमन, गगन, सखि, ब्रह्म आदि नाम देते हैं परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं होता। उनका निर्गुण व्यक्तित्व-हीन नहीं, किन्तु, अवर्णनीय है। वह निर्गुण-सगुण दोनों के ऊपर है। वह समस्त सृष्टि का निर्माणकर्त्ता, पोषक एवं संहारक है। समस्त विश्व उसी से जन्म लेकर उसी में लय हो जाता है। सद्गुरु की कृपा से और आत्मविचार की सरणि के सहारे उस परोक्षसत्ता की कृपा का 'राम जलु' प्राप्त किया जा सकता है।

कबीर की दार्शनिकता जीव को परमतत्व का ही एक अंश मानती है। उनके अनुसार 'हरि में पिण्ड है और पिण्ड में ही हरि हैं', और वही सर्वसमर्थ और सर्वत्र विद्यमान है। जीवात्मा भी परमतत्व की भाँति नित्य एवं निर्विकार है।

कबीर-दर्शन में माया उस परमतत्व की मूल प्रेरकशक्ति है जो उसकी ही भाँति अनादि है। कबीर उसे परमसुन्दरी एवं परमठगिनी कहकर संबोधित करते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। 'भरम-करम' में जीवतत्व को फँसाने वाली यही है और सत, रज, तम के स्वरूप में दीख पड़ने वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी यही है। आत्मविचार से ही इस परम सुन्दरी ठगिनी माया को नियंत्रित किया जा सकता है। आत्मविचार के सतत् अभ्यास से ही जीवन एवं साधन-पथ की समस्त ग्रन्थियों को सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार दर्शन या विचार के क्षेत्र में कबीर को 'आत्म-चिंतन' ही समस्त प्रश्नों के रूप में स्वीकृत है। यद्यपि उन्होंने गुरु की अनिवार्यता को स्वीकार किया है किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि गुरु समाधान की ओर संकेत भर कर देता है।

साधक अपनी योग्यता के बल पर ही उसे समझता है और इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए 'हठयोग' की अनिवार्यता को अंगीकार करता है। हठयोग के चार अंग हैं—(१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) मुद्रा, और (४) नादानुसन्धान। वस्तुतः प्रथम तीन ही हठयोग के अन्तर्गत हैं; नादानुसन्धान लय योग है।

(१) **आसन**—प्राणायाम के अभ्यास के लिए स्थिर होकर बैठने का नाम आसन है। आदिनाथ ने चौरासी आसन बताये हैं जिनमें मुख्य चार हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, भद्रासन। इनमें भी सबसे मुख्य सिंहासन है। इसे बहत्तर हजार नाड़ियों का शोधन करने वाला और मोक्ष-कपाट का भेदन करने वाला कहा गया है। शांत भाव से समतल स्थान में बैठकर बाँई एड़ी को योनिस्थान (गुदा और पेढ़ू के बीच का स्थान) में और दाहिनी एड़ी को पेढ़ू के ऊपर सटाकर ठोड़ी को छाती से लगाकर और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच गढ़ा रखना ही सिंहासन है। इसके अनेक नाम और भेद हैं।

(२) **प्राणायाम**—आसन सध जाने से ही प्राणायाम का अभ्यास ठीक होता है। मन प्राण के साथ ही लगा रहता है। प्राण-वायु के निकल जाने पर मन ही नहीं रहता। वायु के साथ मन भी उसी की भाँति चंचल रहता है, उसे स्थिर कर ले तो मन भी स्थिर हो सकता है। अतः मन को स्थिर करने के लिए वायु-निरोध अर्थात् प्राणायाम आवश्यक है। प्राणवायु निरोध सिंहादि को वश में करने के समान है। यह युक्तिपूर्वक धीरे-धीरे अभ्यास करने से सधता है, अन्यथा रोगकर और घातक हो जाता है। शरीर में भेद और श्लेष्मा के आधिक्य से प्राणायाम में कष्ट होता है। अतः प्राणायाम के पूर्व कोई-कोई षट्कर्म (धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक, कपालभाति) का विधान करते हैं।

प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। आसन लगाकर प्राण-वायु (साँस) को धीरे-धीरे भीतर खींचना पूरक है, उसे कुछ समय भीतर ही रोक रखना कुम्भक और फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल देना रेचक। कुम्भक के अनेक प्रकार हैं जिनमें 'केवल' कुम्भक मुख्य है। प्राणायाम 'बंधों' और 'मुद्राओं' के साथ करने से विशेष लाभ होता है। बंध तीन प्रकार के हैं—मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध। मुद्राओं का उल्लेख आगे किया जायगा।

वैसे तो शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, परन्तु तीन सबसे प्रधान हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना। प्राण-संचार इड़ा और पिंगला से होता है, सुषुम्ना का द्वार बन्द रहता है। इड़ा बाईं ओर की और पिंगला दाहिनी ओर की नाड़ी हैं। दोनों के मध्य में सुषुम्ना मूल स्थान से रीढ़ के भीतर होती हुई ऊपर जाती है। प्राणायाम का लक्ष्य प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर प्रवेश कराना है। तभी प्राण स्थिर होता है और उन्मनी स्थिति प्राप्त होती है अर्थात् मन भी एकाग्र और स्थिर होकर सूक्ष्म तत्व की ओर उन्मुख होता है। प्राणायाम सिद्ध होने पर यथेष्ट वायु धारण करने की शक्ति प्राप्त होती है और सहज में ही राजयोग (समाधि) की सिद्धि हो जाती है। शरीर में कृशता, प्रसन्न-मुख, स्फुटवाणी, निर्मल नयन, अरोगता, बिंदु (वीर्य) जय, दीप्त-अग्नि आदि प्राणा-याम-सिद्धि के प्रकट लक्षण हैं।

(३) **मुद्रा**—प्राणवायु को सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए कुंडलिनी को उद्बुद्ध करना पड़ता है। यह कुंडलिनी सुषुम्ना का मुख बन्द किये सर्पाकार कुंडली बाँधकर सोती रहती है। जब यह उद्बुद्ध होती है तो सीधी हो जाती है और सुषुम्ना का द्वार—जो मोक्षद्वार कहलाता है, खुल जाता है। जैसे कुंजी से कपाट खोला जाता है, उसी प्रकार कुंडलिनी के द्वारा योगी मोक्षद्वार को खोलता है।

कुंडलिनी को जगाने के लिए मुद्रा का अभ्यास करना पड़ता है। मुद्राएँ दस हैं, जिनमें खेचरी प्रधान है। दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थिर रख जीभ को तालु विवर में

प्रविष्ट कराना (इसे गोमांस भक्षण भी कहते हैं) खेचरी मुद्रा है। इस मुद्रा में योगी ब्रह्म-रंध्र में स्थित चन्द्रमा से झरने वाले रस (अमृत, सोम या वारुणी) का पान करता है। इसकी युक्ति न जानने से नाभि में स्थित सूर्य उस अमृत को ग्रस लेता है, जो जरा आदि का कारण है।

(४) **नादानुसंधान**—जब कुंडलिनी उद्बुद्ध होती है और प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब वह छहों चक्रों और तीनों ग्रंथियों का भेदन करने के बाद स्थिर हो जाता है। सुषुम्ना के मार्ग में छः चक्र इस प्रकार स्थित हैं—गुदा के पास 'मूलाधार', पेडू के पास 'स्वाधिष्ठान', नाभिदेश में 'मणिपुर', हृदय में 'अनाहद', कण्ठ में 'विशुद्ध' और भ्रूमध्य में 'आज्ञा'। ये चक्र कमल पुष्प के आकार के कहे गये हैं जिनमें क्रमशः चार, छः, दस, बारह, सोलह और दो दल होते हैं। अनाहत चक्र में ब्रह्म ग्रन्थि, विशुद्ध में विष्णु ग्रन्थि और आज्ञा में रुद्र ग्रन्थि होती है।

जब चक्रों और ग्रन्थियों का भेदन करता हुआ प्राणवायु सुषुम्ना पथ से ऊपर चढ़ता है तो शरीर के भीतर अनेक विचित्र ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। यही अनाहत् नाद का श्रवण है। आरम्भ में समुद्र या मेघ के गर्जन अथवा भेरी या झर्झर की सी और मध्य में मर्दल, शंख, घंटा और काहल की सी ध्वनि सुनाई देती है। अन्त में किंकिणी, वीणा, भ्रमर गुंजन का सा मधुर शब्द सुनाई पड़ता है। आज्ञाचक्र में रुद्र ग्रन्थि को भेदने के बाद मन, प्राण, नाद—तीनों का लय हो जाता है। मन निर्विषय हो जाता है, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद मिट जाता है, निर्विकल्प समाधि लग जाती है और योगी सहज आत्मसुख का अनुभव करता है। कबीर के निम्नांकित पद में 'हठयोग' के विभिन्न स्तर विविक्त हैं, विशेषता इतनी ही है कि इसमें 'भक्तिभगति' को भी जोड़ लिया गया है :—

हिंडोलना तहाँ झूलै आतम रांम।
प्रेम भगति हिंडोलना, सब संतनि कौ विश्राम॥
चंद सूर दोइ खंभवा बंक नालि की डोर।
झूलै पंच पिआरिया, तहाँ झूलै जिय मोर॥
द्वादिस गम के अंतरा, तहाँ अमृन्त को ग्रास।
जिनि यह अमृन्त चापिया, सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुन्नि को नेहरौ, गगन मंडल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलै हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कँवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद व्यंद की नावरी, रामनाम कनिहार।
कहै कबीर गुन गाइले, गुरगंमि उतरो पार॥

दर्शन के क्षेत्र में कबीर का दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है किन्तु व्यवहारक्षेत्र में व्यक्ति की प्राप्ति में समष्टि की साझेदारी के वे कट्टर हिमायती हैं। योगी आत्मचिन्तन द्वारा जो प्राप्त करे उसे समाज की मुक्ति के लिए समाज में बाँट दे यह उनकी घोषणा है। उनके अनुसार सच्चा योगी अथवा हरिजन वही है जो अपने मन एवं मस्तिष्क की समस्त उपलब्धियों को समाज-हित में नियोजित कर सके। मानव की सभ्यता के वे प्रबल समर्थक थे। केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक स्तर पर ही नहीं किन्तु सामाजिक स्तर पर भी सबको समानता दिलाने के लिए, उन्होंने अभूतपूर्व प्रयास किया है। सच्चे सन्त की भाँति कबीर अपरिग्रह के समर्थक थे, किन्तु कहीं भी उन्होंने भिक्षावृत्ति का न तो समर्थन ही किया और न स्वयं उसमें प्रवृत्त हुए। भिक्षा को उन्होंने अत्यन्त ही निंद्य माना है और इस सामाजिक पाप को उन्होंने कभी भी—सन्तों के लिए भी—उपयुक्त नहीं ठहराया है। बाहुबल द्वारा अर्जित द्रव्य पर ही निर्वाह करने का उपदेश उन्होंने सन्तों को भी दिया और स्वयं भी आजीवन बुनकरी का व्यवसाय चालू रक्खा।

भक्ति के क्षेत्र में कबीर ने अपनी 'भाव-भगति' को प्रतिष्ठित किया है। उनकी 'भाव भगति' वास्तव में "हरि सूँ गठजोरा है"। इसमें भी नवधा-भक्ति-पद्धति का प्रयोग होता है। किन्तु 'भाव-भगति' की नवधा-प्रणाली का फल विलक्षण है। यहाँ 'श्रवण-भक्ति' की यह विशेषता है कि 'सबद' सुनते ही साधक की सारी सुध-बुध खो जाती है, 'कीर्तन-भक्ति' उसे तीव्र बाणों के आघात के समान लगती है। 'स्मरण एवं वन्दन' में मन स्वयं 'रास' बन जाता है और साधक सिर 'नवाना' भूल जाता है, क्योंकि वह सिर नवाये तो किसे जब वह स्वयं 'राम' बन गया है। कबीर की यह 'भाव-भगति' विचित्र है। इसे किसी भी बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। वह सदैव अदृश्य रूप से अपने नवों स्वरूपों के साथ साधक के हृदय में नृत्य किया करती है।

'भाव-भगति' के लिए, मन के नियंत्रण हेतु कबीर ने 'सुरत' शब्द योग का विधान किया है। हृदय में सतत् ध्वनिमान, अनाहत नाद वास्तव में भगवन्नाम है और 'सुरत' मन का एक सूक्ष्म रूप है जिसको भगवन्नाम के साथ जोड़ना पड़ता है। इससे सतत् नाम स्मरण होता है, मन वश में हो जाता है और 'भाव-भगति' की सिद्धि हो जाती है।

परमसत्ता' के आलोक —

कबीर कोरे विचारक नहीं, अपितु कर्मयोगी थे। [illegible]नाद [illegible] व्यवहार की कसौटी पर कस कर ही उसकी महत्ता आँकते थे। इसलिए आचार क्षेत्र में उन्होंने 'सहजशील' को अपने मत का सार माना है। समाज में रहने वाला प्राणी केवल दार्शनिक उड़ानों में नहीं जी सकता; उसे एक अनुभूत व्यवहार सरणि भी चाहिए, जिसका अनुसरण कर वह लोक में सफल हो सके। इसीलिए कबीर ने 'सहजशील'

Shashi Kanta

की अवतारणा की है। 'सहजशील' की प्राप्ति के लिए मानव को सच्चा, संतोषी, सावधान, सबदबेधी तथा सुविचारवान होने की अपेक्षा है। दूसरे शब्दों में समाज में समादृत स्थान की प्राप्ति के लिए कबीर ने शुद्ध भावना, एकनिष्ठा, भगवान के प्रति पूर्ण आस्था, दृढ़ता, संयम, सुरतयोग का अभ्यास, गहन विचारों के समझने की क्षमता तथा सारग्राहिता का होना व्यक्ति के लिए परमावश्यक माना है। सहजावस्था की प्राप्ति होने पर साधक में सबके प्रति आत्मीयता आ जाती है। उसमें किसी के प्रति द्वेष नहीं रहता और वह वन्दनीय बन जाता है।

समन्वयवाद

कबीर का युग भारतीय इतिहास में घोर संघर्ष एवं उथल-पुथल का युग था। राजनैतिक पराजय के उपरान्त भारत में भारतीय एवं बाह्य मुस्लिम शक्ति का सांस्कृतिक संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। तलवार के बल पर भारत के पौरुष को पराजित करने वाले मुसलमान अपने धर्म एवं अपनी संस्कृति को भी भारतीयों पर बलपूर्वक लादना चाहते थे और हिन्दू किसी भी मूल्य पर अपनी सनातन संस्कृति एवं धर्म-पद्धति के संरक्षण के लिए कृत संकल्प थे। यह टक्कर केवल हिन्दू और मुसलमानों की ही नहीं थी वरन् दोनों के संघर्ष ने नवीन संघर्षों को भी जन्म दे दिया था। मुसलमानों के सम्पर्क से निम्न श्रेणी के हिन्दुओं में भी सबके बराबर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने का हौसला भर गया था और हिन्दुओं के सम्पर्क से मुसलमानों में भी क्रमशः ऊँच नीच के अंकुर पनपने लगे और सामाजिक स्तर पर समान होने पर भी मानसिक स्तर पर कुछ कुल उच्च एवं कुछ नीच समझे जाने लगे थे। इस संघर्ष-काल में प्रत्येक जाति, वंश एवं सम्प्रदाय अपने अस्तित्व की सनातनता एवं पुरातनता सिद्ध करने में व्यस्त था। जाति के विशृंखलन अथवा देश के विनाश की ओर किसी का ध्यान न था। समस्त विद्वत्ता विवादों के झंझावात में फँस गई थी और पूर्वाग्रहों से विवेक कुंठित हो चला था। किसी को मुक्ति की राह नहीं मिल रही थी। तभी कबीर ने दोनों को फटकार कर सावधान किया और उनके समक्ष अनुभूत, व्यावहारिक एवं ठोस समाधान प्रस्तुत कर, उन्हें शान्त किया। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि 'वेद और कोरान' दोनों सही हो सकते हैं। कोई भी एवं [illegible] किसी भी नाशवान व्यक्ति या 'काया काची मन अथिर' वाले मानव द्वारा में उसी भाषा का प्रय[illegible] समस्त धर्मों का, निखिल विश्व का संचालक एकमेव 'परमतत्व' है। [illegible] मुल्लाओं [illegible] निर्गुण होता है कभी सगुण, परन्तु है वह दोनों के परे। वह भिन्न नाम, रूप धारण है, अतः राम, रहीम या भगवान, अल्लाह के नामों पर झगड़ा करना मूर्खता है। उस परमतत्व के ही ये सब नाम हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनन्त नाम उसके हो सकते हैं। वह नित्य तथा एकरस है।

यह 'परमतत्व' अपनी माया के सहारे बहुरूपिणी, अस्थिर प्रकृति की सृष्टि करता है किन्तु वह सबमें व्याप्त रहता है, इसलिए यह सृष्टि भिन्न-रूपा होते हुए भी मूलतः एक ही है--एक ही परमतत्व सबमें व्याप्त है। इस प्रकार उन्होंने विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित किया। खड्ग-हस्त, आरक्त-नेत्र, धर्म-प्रवर्तकों एवं समर्थकों को एक आधार मिला, जहाँ वे सब अपने विरोध को विस्मृत कर एक हो सके।

अपने इसी सिद्धान्त का प्रवर्तन कबीर ने सामाजिक संघर्ष एवं ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटाने में भी किया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक जीवात्मा उसी परमतत्व का रूप है, अतः सब बराबर हैं, कोई बड़ा-छोटा नहीं। ईश्वर ने किसी को बड़ा-छोटा, ऊँचा-नीचा नहीं बनाया। ये भेद-भाव मानवकृत हैं, अतः विनाशी हैं। समाज में सबको समान स्थान एवं प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए।

वास्तव में कबीर के समन्वय ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सहिष्णुता एवं समानता का एक पुष्ट एवं तर्क-संगत आधार प्रस्तुत किया जिसने देश को एक सर्वग्रासी संघर्ष से बचाकर भारतीय संस्कृति के संरक्षण में महत्वशाली योग प्रदान किया है।

रहस्यवाद

रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर का स्थान अत्यन्त ही उच्च है। उनका रहस्यवाद सर्वाङ्ग एवं आकर्षक है। उनमें हमें रहस्यवादी अनुभूति की तीनों दशाएँ अपनी पूर्णावस्था में प्राप्त होती हैं; अन्य रहस्यवादी कवियों में यह विशेषता दुर्लभ है। दार्शनिक क्षेत्र में चिन्तक कबीर ने 'परमतत्व' को अनिर्वचनीय, माया को बहुरूपिणी एवं अस्थिर तथा सृष्टि के मूल में 'परमतत्व' की सत्ता की स्थिति को स्वीकार किया है किन्तु साधना के क्षेत्र में कवि कबीर ने उस 'परमसत्ता' को व्यक्तित्व प्रदान किया है। दर्शन की अनिर्वचनीय सत्ता, राग-क्षेत्र में कहीं साहब, कहीं दोस्त, कभी पीर, कभी पीव, कहीं बालक, कहीं जननी का व्यक्तित्व ग्रहण करके उपस्थित होती है, जिसकी ओर कवि का राग अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ प्रभावित होता है।

सद्गुरु की कृपा से, उनके संकेत से, साधक को उस परमसत्ता के आलोक का दर्शन होता है। इस परिचय से साधक के हृदय में विचित्र आह्लाद उत्पन्न हो जाता है। किन्तु यह परिचय स्थायी नहीं होता और न इसकी स्मृति ही स्थिर रहती है। फलतः साधक के हृदय में उसके दर्शन की व्याकुल पिपासा जन्म लेती है। वह उस 'परमतत्व' की प्राप्ति के लिए सब कुछ त्यागने, समस्त आपत्तियाँ झेलने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। उसका हृदय विरह-कातर हो उठता है। रहस्यवादी साधना की यह पहली

ऐतिहासिक अनुक्रम के अनुसार कबीर का युग हिन्दी का वह काल था जब वह पंजाबी, फारसी, डिंगल, हिन्दवी, ब्रज, अवधी, भोजपुरीय आदि से पोषक तत्व ग्रहण कर अपनी रूप-रचना में संलग्न थी। उसका स्वरूप अत्यन्त लचीला था और स्थान-भेद से उसमें रूप-भेद आ जाता था। कबीर ने भाव-प्रेषण की सुविधा की दृष्टि से एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त किया है और उनके कम पढ़े-लिखे चेलों ने उनकी वाणी के अंकन क्षेत्र में प्रचलित शब्द के स्वरूप को ही स्थान दिया है। इसी कारण एक ही कृति में भाषानुसार प्रस्तुत कर दिये गये अनेक रूपान्तर मिलते हैं, यथा कबीर बीजक, आदि ग्रन्थ और कबीर ग्रन्थावली में आए एक पद का भाषा-विषयक भेद कितना स्पष्ट है—

कबीर बीजक—

फिरहुँ का फूले फूले।
जब दस माँस अउँध मुख होते, सो दिन काहे भूले।

आदि ग्रन्थ—

काहे भइया फिरतै फुलिआ फुलिआ
जब दस माँस उरध मुष रहता, सो दिन कैसे भुलिया।

कबीर ग्रन्थावली—

फिरत कत फूल्यौ, फूल्यौ।
जब दस मास उरध मुख होते, सो दिन काहे भूल्यौ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर की वाणी पर उतर आई शब्दावली को कागज पर अंकित करने वाली शिष्य मंडली अपने क्षेत्र में प्रचलित शब्द रूपों के अनुसार अंकित कर लेती थी और जिस आलोचक ने जिस पाठ को लेकर उनकी भाषा का मूल्याङ्कन किया उसने अपने पाठ के अनुसार उनकी भाषा का रूप प्रतिपादित किया।

दूसरे, जनता के मार्गदर्शक कबीर जनवाणी का उपयोग करते थे। श्रोताओं एवं अनुयायियों को अपनी बात स्पष्ट रूप से समझाने के लिए वे अपनी अभिव्यक्ति में उसी भाषा का प्रयोग करते थे जिसे उनके श्रोता सरलता से समझ लें। इसीलिए मौलवियों एवं मुल्लाओं को उपदेश देते समय उनकी भाषा में उर्दू एवं फारसी के शब्द प्रचुरता में आते थे, पंजाब में अपना प्रचार करते समय उनकी भाषा पंजाबी-बहुल हो जाती होगी। पर्यटन के प्रभावस्वरूप भी उनकी भाषा में स्थान-स्थान के प्रचलित शब्दों का आ जाना अनिवार्य था। इसी कारण कबीर की भाषा विविधरूपा है और उसका प्रमुख गुण उसकी स्वाभाविकता एवं सम्प्रेषणीयता है।

कबीर न तो पढ़े-लिखे थे और न उनका लक्ष्य ही भाषा के स्वरूप का परिष्कार करना था। उनका उद्देश्य केवल अपने अनुभवों को अधिक से अधिक स्पष्ट एवं सशक्त ढंग से जनमानस में उतार देना था, इसलिए प्रेषणीयता, प्रभाव एवं प्रवाह की रक्षा के लिए उन्होंने शब्दों के साथ बेरहमी भी की है, उनको मनमाने ढंग से प्रयोग किया है और मनमाने ढंग से उनके स्वरूप में हेर-फेर कर डाला है। परन्तु उसमें कहीं भी मिथ्या क्लिष्टत्व अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं है। विषय, व्यक्ति एवं भाव के अनुरूप शब्दावली एवं शब्दरूप बदले गये हैं, परन्तु उसमें कहीं छिपाव नहीं; जो कुछ है सब स्पष्ट है, उसमें कहीं आडम्बर नहीं है। यह आडम्बरहीनता भी उनकी भाषा का एक प्रमुख गुण है, इसी कारण उसमें अद्वितीय भाव-निरूपण-क्षमता है, आकर्षण है, जो शुष्क नीरस सिद्धान्तों का निरूपण करते समय भी उससे लुप्त नहीं होता।

उलटवाँसियों, पहेलियों, दृष्टिकूटों एवं साधना-निरूपक स्थलों में उनकी भाषा पर क्लिष्टत्व का दोष लगाया जाता है, किन्तु वास्तव में जिन प्रतीकों एवं रूपकों का प्रयोग कबीर ने इन स्थानों पर किया है वे उस काल में बहु-प्रचलित थे और साधारण समाज भी उनसे पूर्णतया परिचित था। इसलिए उस काल के लिए वे सहज सरल थे।

~~वास्तव में~~, काव्य-शास्त्र एवं व्याकरण के अभ्यास के बिना ही कबीर ने भाषा पर जबर्दस्त अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनकी भाषा में अनेक भाषाओं एवं बोलियों का अत्यन्त अकृत्रिम सम्मिश्रण प्राप्त होता है। यद्यपि शिष्यों के एवं लिपिकारों के प्रान्त भेद के कारण उनके प्रयोगों में एकरूपता नहीं है, फिर भी, उसमें भावों के व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है, स्वाभाविकता है, और उसकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि उसकी प्रेषणीयता है। उसमें कला की काट-छाँट भले ही न हो किन्तु अनुभूति का तीक्ष्ण पौरुष उसमें सर्वत्र व्याप्त है, जिसने उसे अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं आदरणीय बना दिया है। अनुभूत सत्य के इस प्रखर पौरुष के कारण ही कबीर 'मसि कागद' न छू कर भी वाणी के 'डिक्टेटर' बन गये हैं और जिस बात को, जिस रूप में उन्होंने कहना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने लाचार है। अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताक़त कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।

आलोचक के आलोचना आयाम में कबीर की भाषा का विराट स्वरूप समाता नहीं; इसीलिए आलोचक गणों ने उसे 'मिश्रित', 'पंचरंगी', 'पंचमेल खिचड़ी', 'सधुक्कड़ी' आदि कहकर उसके रूप निर्धारण का असफल प्रयास किया है। वह यह सब है, पर इसके ऊपर कुछ और भी है।

भाषा की भाँति ही कबीर अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। उनका समस्त काव्य मुक्तक शैली में है, गेय है, परन्तु कहीं भी उसमें साहित्य-स्वीकृत नियमों की पाबन्दी नहीं है। भाषा की निरबंध निरंकुशता शैली में भी द्रष्टव्य है। भाव के अनुसार उनकी शैली रूप-परिवर्तन करती रहती है। साधारणतः उनकी शैली के तीन रूप स्थिर किये जा सकते हैं—(१) खण्डनात्मक शैली, (२) उपदेशात्मक शैली, (३) अनुभूतिव्यंजक शैली।

(१) **खण्डनात्मक शैली**—कबीर की खण्डनात्मक शैली का विशेष गुण उसका तीखा व्यंग्य है। कबीर के व्यंग्य अपने लक्ष्य पर सीधी और करारी चोट करते हैं। उनके समक्ष विवश होकर घुटने टेक देता है। इस प्रकार की शैली में कबीर का आधार अनुभूत एव यथार्थ बुद्धिवाद रहता है। यहाँ आप्त वाक्यों एवं स्वीकृत परम्पराओं का विरोध कबीर ने निर्भय होकर किया है। इसमें कबीर के व्यक्तित्व का अत्यन्त अक्खड़ रूप सामने आया है।

(२) **उपदेशात्मक शैली**—इस शैली में कबीर अपने अनुभवों को श्रोता के लिए सुगम बनाने हेतु अत्यन्त सरल एवं परिचित शब्दावली का व्यवहार करते हैं। इस शैली का प्रधान गुण प्रासादिकता है। स्थान एवं व्यक्ति के अनुसार इस शैली का स्वरूप बदलता रहता है। मुसलमानों को उपदेश देते समय इस शैली में फारसी शब्दों एवं इस्लामी प्रतीकों का प्रयोग होता है और हिन्दुओं को समझाते समय उनकी सुपरिचित शब्दावली व्यवहृत होती है।

(३) **अनुभूतिव्यंजक शैली**—वास्तव में यह शैली कबीर के साहित्यिक स्वरूप की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली में सन्त की कोमलता, व्यंजना की प्रौढ़ता, साधक की कातरता, स्वानुभूति का सफल अंकन तथा अलंकारों एवं प्रतीकों का मर्मी प्रयोग है जो उनके काव्य को अलौकिक बना देता है। वास्तव में यहाँ कवि अपने दिव्यरूप में प्रतिष्ठित है। यहाँ कवि के हृदय की नैसर्गिक स्पन्दनधारा प्रातः समीरण के सौरभ की भाँति पाठक को उल्लसित कर उसे नव-चेतना एवं नवोन्मेष से भर देती है। इस शैली के पद स्वतः पूर्ण हैं। उनमें गीतिकाव्य के सभी लक्षण, अभिव्यक्ति के समस्त सौन्दर्य एकीकृत हो गये हैं। इन पदों की भाषा भी अपेक्षाकृत सुघर है और उसमें माधुर्य कूट-कूट कर भरा है।

मूल्यांकन

कबीर मूलतः भक्त थे। इस केन्द्र के आस-पास उनके व्यक्तित्व के अन्य रूप यथा—कवि, समाज-सुधारक, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य विधायक, सम्प्रदाय प्रवर्तक, वेदान्त व्याख्याता, दार्शनिक आदि उभरे हैं। वास्तव में व्यक्तित्व के इन रूपों का उत्कर्ष भक्ति साधना के प्रयासों में स्वयं होता रहा है।

भक्ति का अनुभव हो सकता है, आस्वादन भी हो सकता है किन्तु दर्शन और कथन नहीं। इस साधारण तथ्य को सर्वसाधारण को समझाने के लिए कबीर को हजार ढंग से समझाना पड़ा। भगवान के प्रति अहेतुक प्रीति की उपादेयता, उससे उपलब्ध होने वाले अलौकिक आनन्द को उन्होंने वाणी द्वारा चित्रित करने का प्रयास किया है। ऐसा करने में उन्हें अमूर्त को मूर्त, अरूप को रूप के द्वारा ध्वनित करना पड़ा। भक्ति के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के प्रयास में ही, अनुभव को साकार करने के प्रयत्नों में ही उनका कवि-रूप विकसित हुआ। उन्हें भाषा पर डिक्टेटरी करनी पड़ी। भक्त रहते हुए भी वे निर्गुण धारा के प्रवर्तक कवि बने और भारतीय वाङ्मय के विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न युग-निर्माताओं में उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। उनके काव्य की मूल प्रेरक शक्ति भक्ति है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही कहा है कि उनका कवि रूप तो 'बाई प्रोडक्ट' ही है।

समाज सुधारक के रूप में भी कबीर को सम्मान्य स्थान प्राप्त है। उन्होंने पूर्ण-निर्भयता से हिन्दू-मुस्लिम बाह्याचारों एवं ईश्वर, वेदों या पैगम्बरों के नाम पर चलती हुई ऊँच-नीच की मान्यताओं की धज्जियाँ उड़ा दीं। ब्राह्मण और पण्डित, मुल्ला और काजी उनके व्यंग्य के कशाघातों से तिलमिला उठे। किन्तु उन्होंने केवल निर्ममता से आघात ही नहीं किये, कुशल वैद्य की भाँति औषधि का प्रबन्ध भी किया। यही उनकी विशेषता है। यद्यपि सामाजिक कुरीतियों पर कटूक्तियों की परिपाटी तो सिद्धों और नाथों के समय से चली आती थी किन्तु वह सफल न हुई क्योंकि उसकी प्रेरक शक्ति इन सिद्धों की हीन ग्रंथियाँ थीं। कटुता से कटुता कैसे हटती। परन्तु कबीर ने अपनी 'भाव-भगति' का अमृत सब के सामने रक्खा और उस 'परमसत्ता' के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जो अनन्त रूपों में इस विश्व में व्यक्त हो रही है और प्रत्येक जीव जिसका एक अंश है। कृष्ण, करीम सब उसी 'परमसत्ता' के प्रतीक हैं; अतः नामों पर संघर्ष व्यर्थ है। सब एक ही के अंश हैं; अतः समान हैं। सबको उस 'परमसत्ता' का प्रेम प्राप्त करने के लिए आपस में प्रेम से रहना चाहिये। उनकी इस विधायक प्रवृत्ति के कारण ही सुधारकों में कबीर का स्थान अत्यन्त उच्च है और आधुनिक काल में भी गाँधी जैसे महान् व्यक्ति ने समाज-सुधार के क्षेत्र में उनकी महत्ता को स्वीकार किया और स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के क्षेत्र में उनके काव्य को आदर्श माना।

दर्शन के क्षेत्र में भी कबीर की उपलब्धि महान् है। उन्होंने निराकार आलम्बन के साथ बड़ी खूबी से प्रेमा-भक्ति को संयुक्त कर दिया। इस उपलब्धि ने ही तत्कालीन म्रियमाण एवं साकारोपासना में नष्ट-विश्वास हिन्दू जाति को संजीवनी शक्ति दी, अन्यथा इस्लाम के प्रबल प्रवाह में अन्य जातियों की भाँति हिन्दू जाति भी सदा सर्वदा के लिए विलीन हो जाती। हिन्दू जाति इस बात के लिए सदैव कबीर की कृतज्ञ रहेगी।

कबीर के व्यक्तित्व के इन विभिन्न स्वरूपों के पीछे उनका प्रबल सर्वजयी निजी रूप है, जो सब पर छाया है। वह है उनका फक्कड़, मस्तमौलापन। उसे संसार से कुछ लेना नहीं, देना ही देना है। अगर कोई न लेना चाहे, न सुनना चाहे तो यह फक्कड़ अकेले ही—'अपनी राह तू चलै कबीरा', कहकर अकेले ही अपने रास्ते पर चले जाने का हौसला रखता है। इसी फक्कड़पन ने उसमें अप्रतिम तेज भर दिया है, उसके व्यक्तित्व को सर्वजयी बना दिया है, उसकी वाणियों में अनन्य-साधारण रस भर दिया है और भर दी है उसमें युग-नेता की अद्भुत दृढ़ता एवं युग-प्रवर्तक की अनोखी सूझ-बूझ। आज भी कबीर जनता के प्रेमपात्र हैं, श्रद्धा-भाजन हैं, विश्वासपात्र हैं। उनका प्रभाव विस्मयकारी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में ,'महिमा में वह केवल एक प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसीदास।"

SHASHI RAINA

संकलित साखियाँ एवं पद

साखियाँ

सतगुर सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति ।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ।। १ ।।
बलिहारी गुर आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार ।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ।। २ ।।
सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार ।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार ।। ३ ।।
सतगुर के सदकै करूँ, दिल अपणीं का साछ ।
कलियुग हम स्यूँ लड़ि पड़्या मुहकम मेरा बाछ ।। ४ ।।
सतगुर लई कमांण करि, बाहण लागा तीर ।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या शरीर ।। ५ ।।
हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि ।
कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ।। ६ ।।
निस अँधियारी कारणैं, चौरासी लख चंद ।
अति आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद ।। ७ ।।
बूड़े थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चमंकि ।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ।। ८ ।।
सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार ।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ।। ९ ।।
कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल ।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ।।१०।।

च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास ।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ॥११॥

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख ।
जाका बासा गोर मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख ॥१२॥

जैसें माया मन रमैं, यूँ जे राम रमाइ ।
(तौ)तारा मण्डल छाँड़ करि,जहाँ के सो तहाँ जाइ॥१३॥

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥१४॥

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा, बेगे लेहु बुझाइ ॥१५॥

रात्यूं रूंनी बिरहनीं; ज्यूं बंचौ कूं कुंज ।
कबीर अन्तर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥१६॥

अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल ।
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥१७॥

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ॥१८॥

मूवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम ।
पाथर घाटा लोह सब, पारस कौंणैं काम ॥१९॥

यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥२०॥

बिरह भुवंगम तन बसै, मन्त्र न लागै कोइ ।
राम बिवोगी न जीवै, जिवै तो बौरा होइ ॥२१॥

नैनां नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ॥२२॥

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊँ ।
मो देख्यां जल हरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ ॥२३॥

रैंणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि ।
देवलि देवलि घाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥२४॥

दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंण्या संग ।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, उडि उडि पड़ैं पतंग ॥२५॥

अगनि जु लागी नीर मैं, कंदू जलिया झारि ।
उतर दषिण के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥२६॥

अहेड़ी दौं लाइया मृग पुकारे रोइ ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है वन सोइ ॥२७॥

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥२८॥

सायर नाहीं सीप विन, स्वांति बूंद भी नाहिं ।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ मांहि ॥२९॥

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि बिलग ।
लूँण बिलगा पाणियां पांणीं लूँण बिलग ॥३०॥

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाय ॥३१॥

चौहटै च्यंतामंणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि ।
मीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलौं न काहू साथि ॥३२॥

सुरति समांणी निरति मैं, निरति रही निरधार ।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्यंभ दुवार ॥३३॥

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं ।
मुकताहल मुकुता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥३४॥

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली कवल प्रकास ।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥३५॥

नींव बिहूँणां देहुरा, देह बिहूँणा देव ।
कबीर तहां बिलंबिया, करे अलष की सेव ॥३६॥

कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥३७॥

सबै रसांइण मैं किया, हरि सा और न कोइ ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कचन होइ ॥३८॥

कया कमण्डल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर ।
तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सरीर ॥३९॥

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ ।
बूंद समानी समंद मैं, सो कत हेरो जाइ ॥४०॥

कबीर रख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहां समाइ ॥४१॥

जब लग भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूं मिलैं, निहकामी निज देव ॥४२॥

सातौं सबद जु बाजते, घरि घरि होते राग ।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग ॥४३॥

कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार ।
जम रांणौं गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥४४॥

कबीर जे धंधै तौ धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं ।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धंधै मैं ध्याया नहीं ॥४५॥

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि ।
राम कबीरै रुचि भई, याही ओषदि साधि ॥४६॥

मन कै मतै न चालिये, छाड़ि जीव की बांणि ।
ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि ॥४७॥
कबीर तुरी पलांणियां, चाबक लीया हाथि ।
दिवस थकां सांईं मिलौं, पीछैं पड़िहै राति ॥४८॥
काया कसूं कमांण ज्यूं, पंचतत्त करि बांण ।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण ॥४९॥
जग हटवाड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ ।
रामचरन नीकां गही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥५०॥
मांया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर ।
आसा त्रिष्णां ना मुई, यौं कहि गया कबीर ॥५१॥
माया तरवर त्रिबिध का, साखा दुख संताप ।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकौ तनि ताप ॥५२॥
कबीर गुण की बादली, तीतरवानीं छांहि ।
बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मन्दिर मांहिं ॥५३॥
बुगली नीर बटालिया, सायर चढ्या कलंक ।
और पँखेरू पी गए, हंस न बोवै चंच ॥५४॥
जीव बिलंब्या जीव सौं, अलष न लखिया जाइ ।
गोबिंद मिलै न झल बुझै, रही बुझाइ बुझाइ ॥५५॥
साषि त सण का जेवड़ा, भीगां सूं कठठाइ ।
दोइ अषिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुरि जाइ ॥५६॥
मोर तोर की जेवडी, बलि बंध्या संसार ।
कां सिकडूं बासुत कलित, दाझण बारंबार ॥५७॥
कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नां ठहराइ ।
कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ ॥५८॥

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल ।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मैं करै निहाल ॥५९॥
कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि ।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरिगह लेखा पूरि ॥६०॥
कबीर जिनि जिनि जांणियाँ, करता केवल सार ।
सो प्रांणीं काहे चलै, झूठे जग की लार ॥६१॥
जप तप दोसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास ।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ॥६२॥
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि ॥६३॥
मन मैवासी मूंडि ले, केसौं मूंडे कांइ ।
जे कुछ किया सु मन किया, केसौं कीया नांहि ॥६४॥
पष ले बूडी पृथमीं, झूठी कुल की लार ।
अलष बिसार्‌यौ भेष मैं, बूड़े काली धार ॥६५॥
नवसत साजे कांमनीं, तन मन रही सँजोइ ।
पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कोयें क्या होइ ॥६६॥
निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोमि बिकार ।
मूल बिनंठा मांनवी, बिन संगति भठछार ॥६७॥
मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली सीप भवंग मुषी, एक बूंद तिहुं भाइ ॥६८॥
मेर नीसांणी मीच की, कुसंगति ही काल ।
कबीर कहै रे प्रांणियां, बांणीं ब्रह्म सँभाल ॥६९॥
पांहण टांक न तोलिए, हाडि न कीजे बेह ।
माया राता मांनवों, तिन सूं किसा सनेह ॥७०॥

कबीर तासूं प्रीति करि, जो निरबाहै ओड़ि ।
बनिता बिबिध न राचिये, देषत लागै षोड़ि ॥७१॥

उज्जल देखि न धीजिये, बग ज्यू माँडै ध्यान ।
धोरै बैठि चपेटसी, यूं ले बूडै ग्यांन ॥७२॥

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जांणि ।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडै देसी आंणि ॥७३॥

कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ ।
चंदन होसी बांवना, नीब न कहसी होइ ॥७४॥

केती लहरि समंद की, कत उपजै कत जाइ ।
बलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ ॥७५॥

भगति हजारी कपड़ा, तामैं मल न समाइ ।
साषि त काली काँबलो, भावै तहां बिछाइ ॥७६॥

कबीर हरि का भांवता, दूरैं थैं दीसंत ।
तन षीणाँ मन उनमनां, जग रूठड़ा फिरंत ॥७७॥

राम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हैं कोइ ।
तंबोली के पांन ज्यूं, दिन दिन पीला होइ ॥७८॥

कांमणि अंग बिरकत भया, रत भया हरि नांइ ।
साषी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलि मांहि ॥७९॥

चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबरांउं ।
बैश्नों की छपरी भली, नां साषत का बड गाउं ॥८०॥

पुरपाटण सूबस बसै, आनंद ठांयें ठांइ ।
रांम सनेही बाहिरा, ऊजँड़ मेरे भाइ ॥८१॥

क्यूं नृप नारी नींदये, क्यूं पनिहारी कौं मांन ।
वा मांग संवारै पीव कौं, वा नित उठि सुमिरै रांम ॥८२॥

कबीर मधि-अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै बार ।
दुहु-दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार ॥८३॥
कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि ।
यहु सीतल वहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥८४॥
षीर रूप हरि नांव है, नीर आन ब्यौहार ।
हंस रूप कोई साध है, तत का जांनण हार ॥८५॥
कबीर औगुंण नां गहै, गुंण ही कौं ले बीनि ।
घट घट महु के मधुप ज्यूं, पर आत्म ले चीन्हि ॥८६॥
सोई अषिर सोई बैयन, जन जू जू बाचवंत ।
कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसांइण हुंत ॥८७॥
हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि ।
जतन करी झंटा घंणां, टूटैगी कहूँ लागि ॥८८॥
ग्रिही तौ च्यंता घणीं, बैरागी तौ भीष ।
दुहु कात्यां बिचि जीव है, दौ हनैं संतौ सीष ॥८९॥
जैसी उपजै पेड़ सूं, तैसी निबहै ओरि ।
पैका पैका जोड़तां, जुड़िसो लाष करोड़ि ॥९०॥
रांम नांम करि बोंहडा, बांही बीज अघाइ ।
अन्ति कालि सूका पड़ैं, तौ निरफल कदे न जाइ ॥९१॥
च्यंतामणि मन मैं बसै, सोई चित मैं आंणि ।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की बांणि ॥९२॥
पांडल पंजर मन भवर, अरथ अनूपम बास ।
रांम नांम सींच्या अंमी, फल लागा बेसास ॥९३॥
मेरै मन मैं पड़ि गई, ऐसी एक दरार ।
फाटा फटक पषांण ज्यू, मिल्या न दूजी बार ॥९४॥

दावै दाझण होत है, निरदावै निसंक ।
जो नर निरदावै रहैं, ते गिणैं इंद्र को रंक ॥९५॥

कबीर सब जग हंढिया, मंदिल कंधि चढाइ ।
हरि बिन अपनां को नहीं, देखे ठोकि बजाइ ॥९६॥

सात समंद की मसि करौं, लेखनी सब बनराइ ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥९७॥

झल बांवैं झल दांहिनैं, झलहि माँहि व्यौहार ।
आगैं पीछैं झलमई, राखै सिरजनहार ॥९८॥

सांई सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहि ।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥९९॥

अणी सुहेली सेल की, पड़ता लेइ उसास ।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास ॥१००॥

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियांन ।
जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान ॥१०१॥

सतगुर ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ ।
सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥१०२॥

ज्यूं ज्यूं हरि गुण साँभलौं त्यूं त्यूं लागै तीर ।
लागैं थैं भागा नहीं; साहणहार कबीर ॥१०३॥

घर जालौं घर उबरै, घर राखौं घर जाइ ।
एक अचंभा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ ॥१०४॥

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ ।
कबीर ऐसैं मरि मुवा, ज्यूं बहुरि न मरनां होइ ॥१०५॥

रौड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाषँड अभिमान ।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥१०६॥

तोनि सनेही बहु मिलैं, चौथे मिलै न कोइ ।
सबै पियारे रांम के, बैठे परबसि होइ ॥१०७॥

माया मिलै महोबंती, कूड़े आखै बैन ।
कोई घाइल बेध्या नां मिलै, साईं हंदा सैंण ॥१०८॥

कमोदनीं जलहरि बसै, चदा बसे अकासि ।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥१०९॥

स्वामी सेवक एक मत, मन ही मैं मिलि जाइ ।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन कै भाइ ॥११०॥

षूणैं पड़्या न छूटियो, सुणि रे जीव अबूझ ।
कबीर मरि मैदान मैं, करि इंद्रयां सूं झूझ ॥१११॥

कबीर आरणि पैसि करि, पीछैं रहै सु सूर ।
साईं सूं साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥११२॥

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार ।
ग्यांन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई कार ॥११३॥

कबीर हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ ।
जब लग आस सरीर को, तब लग दास न होइ ॥११४॥

झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मन मोद ।
खलक चबोणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद ॥११५॥

कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मींठ ।
काल्हि जु बैठा माड़ियां, आज मसांणां दीठ ॥११६॥

काची काया मन अथिर, थिर थिर कांम करंत ।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरैं, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥११७॥

जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलि कबीर तिहि देसड़ैं, जहाँ बैद बिधाता होइ ॥११८॥

दाता तरवर दया फल, उपगारो जोवंत।
पंषी चले दिसावरां, बिरषा सुफल फलंत ॥११९॥

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि।
जोड़ी बिछुटी हंस की, पड्या बगां कै साथि ॥१२०॥

पैंडैं मोती बोखर्या, अंधा निकरया आइ।
जोति बिनां जगदीश की, जगत उलंघ्यां जाइ ॥१२१॥

कबीर लहरि समंद की, मोती बिखरे आइ।
बगुला मंझ न जांणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥१२२॥

हरि हीराजन जौहरो, ले ले मांडिय हाटि।
जबर मिलैगा पारिषू, तब हीरां की साटि ॥१२३॥

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि रांम है, दुनियां देखे नांहिं ॥१२४॥

ज्यूं नैनूं मैं पूतली, त्यूं खालिक घट मांहि।
मूरिख लोग न जांणही, बाहरि ढूंढण जांहिं ॥१२५॥

कांमणि मींनीं षांणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ।
जे हरि चरणां राचियां, तिनके निकटि न जाइ ॥१२६॥

परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि ॥१२७॥

पर-नारी पर-सुन्दरी, बिरला बंचै कोइ।
खातां मींठी खाँड सो, अंति कालि विष होइ ॥१२८॥

पर नारी को राचणौं, जिसो ल्हसण की षांनि।
षूणैं बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥१२९॥

नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते रांम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥१३०॥

नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबहीं हरै।
कांइ गमावैं देह, कारिज कोई नां सरै ॥१३१॥

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥१३२॥

नारि नसावैं तोनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति जिन ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ ॥१३३॥

भगति बिगाड़ी कांमियां इंद्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि ॥१३४॥

कबीर सुंदरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजांण।
बेगि मिलौ तुम आइ करि, नहीं तर तजौं परांण ॥१३५॥

कबीर जे को सुंदरी, जांणि करै विभचार।
ताहि न कबहूँ आदरै, प्रेम पुरिष भरतार ॥१३६॥

इस मन कौं मैंदा करौं, नान्हां करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीस ॥१३७॥

दरिया पारि हिंडोलनां, मेल्या कंत मचाइ।
सोई नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलण जाइ ॥१३८॥

हरिया जांणैं रूंषड़ा, उस पांणीं का नेह।
सूका काठ न जांणईं, कबहूँ बूठा नेह ॥१३९॥

कबीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषरांह।
नीर मिवांणां ठाहरै, नाऊँ छा परड़ांह ॥१४०॥

ऊँचा कुल कै कारणैं, बंस बध्या अधिकार।
चंदन बास भेदै नहीं, जाल्या सघ पतिवार ॥१४१॥

आगैं आगैं दौं जलै, पीछैं हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरष की, जड़ कांट्यां फल होइ ॥१४२॥

जे काटौं तो डहडही, सींचौं तो कुमिलाइ ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुंण कह्या न जाइ ॥१४३॥
कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ ।
सांध नांव तब पाइये, जे बेलि बिछोहा होय ॥१४४॥
सींध भइ तब का भया, चहुँ दिस फूटी बास ।
अजहूं बीज अंकूर है, भीऊगण को आस ॥१४५॥
अब तौ ऐसी ह्वै पड़ी, नां तूबड़ी न बेलि ।
जालण आंणीं लाकड़ी, ऊठी कूंपल मेल्हि ॥१४६॥
अंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का दूध ।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं बाँझ का पूत ॥१४७॥
कबीर साथी सो किया, जाकै सुख दुख नहीं कोइ ।
हिल मिलि ह्वै करि खेलस्यूं, कदे बिछोह न होइ ॥१४८॥
कबीर सिरजनहार बिन, मेरा हितू न कोइ ।
गुण औगुण बिहड़ै नहीं, स्वारथ बंधी लोइ ॥१४९॥
आदि मधि अरू अंत लौं, अबिहड़ सदा अभंग ।
कबीर उस करता की, सेवग तजै न संग ॥१५०॥

---

88 Syllabus

पद

[१]

दुलहिनीं गावहु मंगलचार ।
हमरि घरि आए हो राजा रांम भरतार ।।टेक।।
तन रत करि मैं मन रति करिहूँ पंच तत बराती ।
रांम देव मोरै पाहुनैं आये मैं जौबन मैं माती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचार ।
रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ धंनि-धंनि भाग हमार ।।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनियर सहस अठ्यासी ।
कहैं कबीर हंम ब्याहि चलेहैं, पुरिष एक अबिनासी ।।

[२]

मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे ।
चरन कंवल मन मांनियां, और न भावै मोहि रे ।।टेक।।
षट दल कंवल निवासिया, चहु कौं फेरि मिलाइ रे ।
दहुं कै बीचि समाधियां, तहाँ काल न पासै आइ रे ।।
अष्ट कंवल दल भींतरा, तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे ।
सतगुर मिलै तौ पाइये, नहीं तो जन्म अक्यारथ जाइ रे ।।
कदली कुसुम दल भीतरां, तहां दस आंगुल का बीच रे ।
तहां द्वादस खोजि ले, जनम होत नहीं मींच रे ।।
बंक नालि कै अन्तरै, पछिम दिसा की बाट रे ।
नीझर झरैं रस पीजिये, तहां भंवर गुफा के घाट रे ।।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए, सुरति मिलै जौ हाथि रे ।
तहां न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलिहैं साथि रे ।।

गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनंत रे।
बिजुरी चमकि घन बरिषिहै; तहां भीजत हैं सब संत रे॥
षोडस कंवल जब चेतिया तब मिलि गये श्री बनवारि रे।
जुरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुर गमि तैं पाईये, झंषि मरे जिनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥

[३]

नरहरि सहजैं ही जिनि जांनां।
गत फल फूल तत तर पलव, अंकूर बीज नसांनां॥टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हरि सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर-डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समांनां, बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वांमीं।
पद आनंद काल थैं छूटैं, सुख मैं सुरति समांनीं॥

[४]

अबधू ग्यांन लहरि धुनि मांडो रे।
सबद अतीव अनाहद राता, इहि बिधि त्रिष्णां षाँडी॥टेक॥
बन कै ससै समंद घर कीया मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै बांम्हण मतबाला, फल लागा बिन बाड़ी॥
षाण बुणै कोली मैं बैठी, मैं खूंटा मैं गाड़ी।
तांणैं बांणैं पड़ो अनंवासो, सूत कहै बुणि गाढ़ो॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, आगम ग्यांन पद मांहीं।
गुरु प्रसाद सूई कै नांकै, हस्ती आवैं जांहीं॥

[५]

संतो भाई आई ग्यांन की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बांधी॥टेक॥

हिति चत की द्वै थूंनी गिरांनीं, मोह बलींडां तूटा ।
त्रिस्नां छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बांधी, निरचू चुवै न पांणीं ।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणीं ॥
आंधी पीछैं जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां ।
कहै कबीर भांन के प्रगटें, उदित भया तम षींनां ॥

[६]

अब घटि प्रगट भये रांम राई,
सोधि सरीर कनक की नांई ॥टेक॥
कनक कसौटी जैसैं कसि लेइ सुनारा,
सोधि सरीर भयो तन सारा ॥
उपजत उपजत बहुत उपाई,
मन थिर भयो तबै तिथि पाई ॥
बाहरि षोजत जनम गंवाया,
उनमनीं ध्यांन घट भीतरि पाया ॥
बिन परचै तन कांच कथीरा,
परचैं कंचन भया कबीरा ॥

[७]

हिंडोलनां तहाँ झूलै आतम रांम ।
प्रेम भगति हिंडोलनां, सब संतनि कौ विश्राम ॥टेक॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि ।
झूलें पंच पियारियां, तहां झूलै जीय मोर ॥
द्वादस गम के अंतरा, तहां अमृत कौं ग्रास ।
जिनि यहु अमृत चाषिया, सो ठाकुर हंम दास ॥
सहज सुंनि कौ नेहरौं गगन मंडल सिरिमौर ।
दोऊ कुल हम आगरो, जौ हम झूलैं हिंडोल ॥

अरघ उरघ की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट ।
षट चक्र की गागरी, त्रिबेणीं संगम बाट ॥
नाद व्यंद की नावरी, राम नाम कनिहार ।
कहै कबीर गुंण गाइले, गुरु गंमि उतरौ पार ॥

[८]

मन रे जागत रहिये भाई ।
गाफिल होइ बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई ॥टेक॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई ।
ताला कुँची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई ॥
पंच पहरवा सोइ गये हैं, बसतैं जागरण लागी ।
जुरा मरण ब्यापै कुछ नाहीं, गगन मंडल लै लागी ॥
करत विचार मनहीं मन उपजी, ना कहीं गया न आया ।
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया ॥

[९]

संतौं धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहां समाई ।
ए संसा मोहि निस दिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ॥टेक॥
नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुंनि नांहीं, पंचतत्त भी नाहीं ।
इला प्यंगुला सुषमन नाही, ए गुंण कहां समाहीं ॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहिं तहियां, रचनहार पुनि नांहीं ।
जोवनहार अतीत सदा संगि ये गुंण तहां समांहीं ॥
तूटै बँधै बँधै पुंनि तूटे, जब तब होइ बिनासा ।
तब को ठाकुर अब को सेवग, को काकै बिसवासा ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांनां ।
सीखें सुनें पढ़ै का होई, जौ नहीं पदहिं समांनां ॥

[१०]

ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहां समाई ॥टेक॥
सनक सनंदन जै देवनांमां, भगति करी मन उनहुँ न जाना ॥

सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानीं, मन की गति उनहूं नहीं जानीं ॥
ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतरि मन उनहूँ न देषा ॥
ता मन का कोई जानैं भेव, रंचक लीन भयां सुषदेव ॥
गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा ॥
अकल निरंजन सकल सरीरा, ता मन सौं मिलि रह्या कबीरा ॥

[११]

पंडित बाद बदंते झूठा ।
राम कह्यां दुनियां गति पावै, षाड कह्यां मुख मीठा ॥टेक॥
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ॥
नर कै साथ सूवा हरि बोलै, हरि परिताप न जानै ।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जँगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ॥
साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतन सूं हासी ।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ, जमपुरि जासी ॥

[१२]

कथता बकता सुरता सोई, आप बिचारै सो ग्यांनी होई ॥टेक॥
जैसें अगिन पवन का मेला, चंचल चपल बुधि का खेला ।
नव दरवाजे दसूँ दुवार, बूझि रे ग्यांनी ग्यान विचार ॥
देहो माटी बोलै पवनां, बूझि रे ग्यांनी मूवा स कौनां ।
मुई सुरति बाद अहंकार, वह न मूवा जो बोलणहार ॥
जिस कारनि तटि तीरथि जांहीं, रतन पदारथ घटहीं माहीं ।
पढ़ि पढ़ि पण्डित वेद बषांणैं, भीतरि हूती बसत न जांणैं ॥
हूँ न मूवा मेरी मुई बुलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया ॥

[१३]

कौन मरै कौंन जनमै आई, सरग नरक कौने गति पाई ॥टेक॥
पंचतत अबिगत थैं उतपनां, एकैं किया निवासा ।

बिछुरे तत फिरि सहजि समांनां, रेख रही नहीं आसा ।।
जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समांना, यहु तत कथौ गियानीं ।।
आदैं गगनां अंतै गगनां, मधे गगनां भाई ।
कहै कबीर करम किसि लागैं, झूठी संक उपाई ।।

[१४]

मैं सबनि मैं औरनि मैं हूँ सब ।
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो,
कोई कहौ कबीर कोई कहो रांम राई हो ।।टेक।।
नां हम बार बूढ़ नाहीं हम, नां हमरे चिलकाई हो ।
पठए न जांऊँ अरवा नहीं आऊँ, सहजि रहूँ हरिआई हो ।।
वोढन हमरै एक पछेवरा, लोक बोलैं इकताई हो ।
जुलहै तनि बुनि पांन न पावल, फारि बुनी दस ठांई हो ।।
त्रिगुंण रहित फल रमि हम राखल, तब हमारौ नांऊँ रांमराई हो ।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि, इहि कबीर कछु पाई हो ।।

[१५]

हंम तौ एक एक करि जांनां ।
दाइ कहें तिनहीं कौं दोजग, जिन नाहिन पहिचांनां ।।टेक।।
एकै पवन एक ही पांनीं, एक जोति संसारा ।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा ।।
जैसैं बाढी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटै कोई ।
सब घटि अंतरि तूं ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई ।।
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहै कूं गरबांनां ।
निरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दीवांनां ।।

[१६]

पढ़ि ले काजी बंग निबाजा,
एक मसीति दसौं दरबाजा ।।टेक।।

मन करि मका कबिला करि देही,
बोलनहार जगत गुरु ये ही।
उहाँ न दो जग भिस्त मुकामां,
इहां हीं राम इहां रहिमांनां ॥
बिसमल तांमस भरंम कै दूरी,
पंचूं भषि ज्यूं होइ सबूरी।
कहै कबीर मैं भया दिवांनां,
मनवां मुसि मुसि सहजि समांनां ॥

[१७]

काहे री नलनीं तू कुभिलांनी,
तेरे ही नालि सरोवर पांनीं ॥टेक॥
जल मैं उतपति जल मैं बास,
जल मैं नलनीं तोर निवास ॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि,
तोर हेतु कहु कासनि लागि ॥
कहै कबीर जे उदिक समांन,
ते नहीं मूए हंमारे जान ॥

[१८]

बागड़ देस लूवन का घर है,
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है ॥टेक॥
सब जग देखौं कोई न धीरा,
परत धूरि सिरि कहत अबीरा ॥
न तहां सरबर न तहां पांणीं,
न तहां सतगुर साधू बांणीं ॥
न तहां कोकिल न तहां सूवा,
ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा ॥
देस मालवा गहर गंभीर,
डग डग रोटी पग पग नीर ॥

कहै कबीर घर हीं मन मांनां,
गूंगे का गुड़ गूंगै जांनां ॥

[१९]

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति कर सींगी, नाद न षंडै धारा ॥टेक॥
बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतन चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसण नहीं छांड़ै, पीवे महा रस मींठा ॥
परगट कथां मांहैं, जोगी, दिल मैं दरपन जोवै ।
सहंस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै ॥
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै ॥

[२०]

अवधू गगन मंडल घर कीजै ।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नाल रस पीवै ॥टेक॥
मूल बाँधि सर गगन समांनां, सुषमन यों तन लागी ।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहां जोगणीं जागी ॥
मनवां जाइ दरीबै बैठा, भगन भया रसि लागा ।
कहै कबीर जिय संसा नांहीं, सबद अनाहद बागा ॥

[२१]

अवधू मेरा मन मतिवारा ।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा ॥टेक॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन करि महुवा भव भाठी करि भारा ।
सुषमन नारी सहजि समांनीं, पीवै पीवनहारा ॥
दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी ।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी ॥
सुंनि मंडल मैं मंदला बाजै तहां मेरा मन नांचै ।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै ॥

पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यौ, तन की तपति बुझानी ।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोत समानी ।।

[२२]

नाचु रे मेरे मन मत्त होइ ।
प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ ।।
राहु-केतु नवग्रह नाचै, जम जन्म आनंद होइ ।
गिरी समुंदर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ ।।
छापा-तिलक लगाइ बाँस चढ़ हो रहा जग से न्यारा ।
सहस कला कर मन मेरौ नाचै, रीझै सिरजनहारा ।।

[२३]

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार बाको क्यों खोले ।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।।
सुरत-कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले ।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले ।।
तेरा साहब है घरमाँहीं, बाहर नैना क्यों खोले ।
कहैं कबीर सुनौ भाई साधौ, साहब मिल गये तिल ओले ।।

[२४]

मोंहि तोंहि लागो कैसे छूटे ।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा ।।
जैसे चकोर तकत निसि चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा ।।
मोहि-तोहि आदि-अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई ।।
कहैं कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई ।।

[२५]

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहेको खोवै ॥
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरो सब सोय गँवाया ॥
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पियकी सेज सँवारी ॥
तैं बौरो बौरापन कीन्हीं।
भर-जोबन पिय अपन न चीन्ही ॥
जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छाँड़ि उठि गये सबेरे ॥
कहैं कबीर सोई धुन जागै।
शब्द-बान उर-अन्तर लागै ॥

[२६]

बोलो भाई रांम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई ॥टेक॥
इला व्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मूंदे, लागी जोग जुग तारी ॥
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछू न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अंमृत धार चुवाई ॥
पंच जने संग करि लीन्हैं, चलत खुमारो लागो।
प्रेम पियालै पीवन लागै, सोवत नागिनी जागी ॥
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाष्या, सतगुर थैं सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई ॥

[२७]

भाई रे चूँन बिलूंटा खाई।
बाघनि संग भई सबहिन कै, खसम न भेद लहाई ॥टेक॥

सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जांनै भेव ।
खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड़ न देई लेंव ॥
पाड़ोसनि पनि भई बिरानीं, मांहि हुई घर घालै ।
पंच सखी मिलि मंगल गांवैं, यह दुख याकौं सालै ॥
द्वै द्वै दीपक घरि घरि जोया, मंदिर सदा अँधारा ।
घर घेहर सब आप सवारथ, बाहरि किया पसारा ॥
होत उजाड़ सबै कोई जांनैं, सब काहू मनि भावै ।
कहै कबीर मिलै जे सतगुर, तौ यहु चून छुड़ावै ॥

[२८]

मन रे कागद कीर पराया ।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारै, कल तर बढ़ै सवाया ॥
बड़ैं बौहरै सांठा दीन्हौं, कल तर काठ्यो खोटै ।
चार लाष अरु असी ठीक दे, जनम लिष्यौ सब चोटै ॥
अब की बेर न कागद कीरयौ, तौ धर्म राइ सूं तूटै ।
पूंजी बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौंन कै छूटै ॥
गुरदेव ग्यांनीं भयौ लगनियां, सुमिरन दीन्हौं हीरा ।
बड़ी निसरनी नांव रांम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥

[२९]

गोव्यंदे तुम्ह थैं डरपौं भारी ।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये, यहु कौंन बात तुम्हारी ॥टेक॥
धूप दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सचपाऊँ ।
तरवर मांहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ ॥
जे बन जलै त जल कूं धावै, मति जल सीतल होई ।
जलही मांहि अगनि जे निकसै और न दूजा कोई ॥
तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जानौं ।
कहै कबीर सरनांई आयौं, आंन देव नहीं मानौं ॥

[३०]

डगमग छाड़ि दें मन बौरा ।
अब तौ जरें बरें बनि आवें, लीन्हों हाथ सिंधौरा ।।टेक।।
होइ निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौ ।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सती न संचै भाड़ौ ।।
लोक बेद कुल की मरयादा, इहै गलै मैं पासी ।
आधा चलि करि पीछा फिरिहैं, ह्वै है जग मैं हासी ।।
यहु संसार सकल है मैला, रांम कहैं ते सूचा ।
कहै कबीर नाव नहीं छांड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा ।।

[३१]

अवधू कांमधेन गहि बांधी रे ।
भांडा भंजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आंधी रे ।।टेक।।
जौ ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत सरवै ।
कौली घाल्यां बीडरि चालै, ज्यूं घेरों त्यूँ दरवै ।।
तिहि धेन थैं इंछया पूगी, पाकड़ि खूंटै बाँधी रे ।
ग्वाडा मांहैं आनन्द उपनौं, खूँटै दीऊ बांधी रे ।।
साई माइ सास पुनि साई, साई याकी नारी ।
कहै कबीर परमपद पाया, संतो लेहु बिचारी ।।

[३२]

माया महा ठगनी हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी ।
केसव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी ।।
पंडा के मूरत होई बैठी, तीरथहू में पानी ।।
जोगी के जोगिन होई बैठी, राजा के घर रानी ।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहूके कौड़ी कानी ।।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ।।

[३३]

साधो एक रूप सब मांही।
अपने मनहिं विचारि कै देखो और दूसरो नाहीं॥
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के माहीं।
कहीं नारि कहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं॥
सब्द पुकारि सत्त मैं भाखौं अन्तर राखौं नाहीं।
कहैं कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरले ताहि लखाहीं॥

[३४]

ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या, मैं रह्या उभैषै।
मूसा हसती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥टेक॥
मूसा पैठा बांषि मैं, लारे सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई॥
चींटी परबत ऊषण्यां, ले राख्यो चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं मृड़ै, लल पाँणीं दौड़ै॥
सुरहीं चूषै बछतलि, बछा दूध उतारे।
ऐसा नवल गुंणी भया, सारदूलहि नारे॥
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारे।
कहै कबीर ताहि गुरु करौ, जो या पदहि बिचारे॥

[३५]

अब मैं जाँणिबो रे केवल राइ को कहाँणी।
मंझा जोति राम प्रकासै, गुरु गमि बाँणी॥टेक॥
तरवर एक अनन्त मूरति, मुरता लेहु पिछाँणीं।
साखा पेड़ फूल फल नाँहीं, ताकी अमृत बाँणीं॥
पुहप बास भंवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरे, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि विरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यह तरवर पेष्या॥

[३६]

अवधू अगनि जरे कै काठ ।
पूजौं पंडित जोग संन्यासी सतगुरु चीन्हैं बाट ।।टेक।।
अगनि पवन मैं पवन कवन मैं, सबद गगन के पवनां ।
निराकार प्रभु आदि निरजन, कत रबंते भवनां ।।
उतपति जोअि कवन अंधियारा, घन बादल का बरिषा ।
प्रगट्यो बीज धरनि अति अधिकै, पारब्रह्म नहीं देखा ।।
मरना मरे न मरि सकै, मरनाँ दूर न नेरा ।
द्वादस द्वावस सनमुख देखैं, आपै आप अकेला ।।
जे बांध्या ते छुछंद मुकता, बाँधनहारा बाँध्या ।
बाँध्या मुकता मुकता बाँध्या, तिहि पारब्रह्म हरि लाँघा ।।
जे जाता ते कौंण पठाता, रहता ते किन राख्या ।
अंमृत समाना विष मैं जाना, विष मैं अमृत चाख्या ।।
कहै कबीर बिचार बिचारी, तिल मैं मेर समाँनाँ ।
अनेक जनम का गुर गुर करता, सतगुरु सब भेटाँनाँ ।।

[३७]

अबधू ऐसा ग्यान बिचारं ।
भेरै चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पार ।।टेक।।
ऊघट चले सु नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे ।
एक जेबड़ी सब लपटाँनें, के बाँधे के छूटे ।।
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूका ।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ।।
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा ।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देख्या धंधा ।।

[३८]

पषा पषी कै पेषणैं, सब जगत भुलांनां ।।
निरपष होइ हरि भजै, सो साध सयांनां ।।टेक।।

ज्यूं पर सूं पर बंधिया, यूँ बंधे सब लोई।
जाकै आत्म द्रिष्टि है, साचा जन सोई ॥
एक एक जिनि जाँणियाँ, तिन हीं सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौं लींन मन, ते बहुरि न आया ॥
पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥

[३९]

रांम राइ कासनि करौं पुकारा,
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥टेक॥
इन्द्री सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई।
लै धरि जांहि तहाँ दुख पइये, बुधि बल कछू न बसाई ॥
मैं बपरौ का अलप मूंढ़मति, कहा भलौ जे लूटै।
मुनि जन सती सिध अरु साधिक तेऊ न आयैं छूटै ॥
जोगी जती तपी संन्यासी, अह निसि खोजै काया।
मैं मेरी करि बहुत बिगूते, विषै बाघ जग खाया ॥
ऐकत छाँड़ि जाँहि घर घरनी, तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, विषम तुम्हारी माया ॥

[४०]

ऐसी रे अवधू की बाँणीं।
ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ॥टेक॥
जब लग गगन जोति नहीं पलटै।
अबिनासी सूँ चित नहीं चिहुटै ॥
जब लग भँवर गुफा नहिं जानैं।
तौ मेरा मन कैसे मांनैं ॥
जब लग त्रिकुटी संधि न जानैं।
ससिहर कै धरि सूर न आनैं ॥

जब लग नाभि कंवल नहीं सोधै ।
तौ हीरै हीरा कैसैं बेधै ॥
सोलह कला संपूरण छाजा ।
अनहद कै घरि बाजें बाजा ॥
सुषमन कै घरि भया अनन्दा ।
उलटि कवल मेटे गोब्यंदा ॥
मन पवन जब परचा भया ।
ज्यूं नाले रांषी रस भइया ॥
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी ।
औघट घट सींचि ले क्यारी ॥

[४१]

जोगिया तन कौ जंत्र बजाइ,
ज्यूँ तेरा आवागवन मिटाइ ॥टेक॥
तत करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ ।
मन करि निहचल आसंण निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ॥
चित करि बटवा तुचा मेषली, भसमैं भसम चढ़ाइ ।
तजि पाषंड पाँच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ ॥
हिरदै सींगी ग्यांन गुणि बाँधौ, खोजि निरंजन साचा ।
कहै कबीर निरंजन की गति जुगति बिनाँ प्यंड काचा ॥

[४२]

अब न बसूं इहिं गांह गुसाईं,
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो रांम ॥टेक॥
नगर एक तहाँ जीव धरम हता, बसैं जु पंच किसानाँ ।
तैनूं निकट श्रवनूं, रसनूं,
इंद्री कह्या न मानैं हो रांम ॥
गांइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।

जोरि जेवरौ खेति पसारै,
सब मिलि मोकौं मारै हो रांम ॥
धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।
पांच किसांनां भाजि गये हैं,
जीवधर बाँध्यो पारी हो रांम ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बाँधौ मेरा ।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं,
सब खत करौं नबेरा ॥

[४३]

फिरहु का फूले फूले फूले ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूले ॥
जब जरिअै तब होइ भसम तन रहै किरिम दल खाई ।
कांचैं कुंभ उदिक ज्यौं भरिया या तन की इहै बड़ाई ॥
ज्यौं मांखी सहतैं नहिं बिहुरै जोरि जोरि धन कीन्हाँ ।
मुएं पीछै लेहु लेहु करै भूत रहन क्यूं दीन्हाँ ॥
देहरि लौं बरी नारि संग है आगैं सजन सुहेला ।
मरघट लौं सभ लोग कुटुंब भयो आगैं हंसु अकेला ॥
रांम न रमहु मोह कहा माते परहु काल बस कूवा ।
कहै कबीर नर आपु बंधायो ज्यूं नलनी भ्रमि सूवा ॥

[४४]

एक अचंभा ऐसा भया, करणीं थैं कारण मिटि गया ॥टेक॥
करणी किया करम का नास । पावक मांहिं पुहुप प्रकास ॥
पुहुप मांहि पावक प्रजरै । पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ॥
प्रगटी बास बासना धोइ । कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ ॥
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई । भौ भ्रम भाग ऐसी भई ॥
उलटी गंग मेर कूं चली, धरती उलटि अकासहि मिली ॥
दास कबीर तत ऐसा कहै । ससिहर उलटि राह कौं गहै ॥

[४५]

विष्णु ध्यांन सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे।
साच बिन सीझसि नहीं, कांई ग्यान दृष्टैं जोइ रे ।।टेंक।।
जंजाल मांहैं जीव राखै, सुधि नहीं सरीर रे।
अभिअंतरि भेदै नहीं, काँई बाहरि न्हावै नीर रे।।
निहकर्म नदी ग्यांन जल, सुंनि मंडल मांहि रे।
औधूत जोगी आतमां, कांई पेणैं संजमि न्हाहि रे।।
इला प्यंगुला सुंषमनां, पछिम गंगा बालि रे।
कहै कबीर कुसमल झड़ैं, कांई मांहि लौ अंग पषालि रे।।

[४६]

साधो, ब्रह्म अलख लखाया।
जब आप आप दरसाया।।
बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा-मद्धे छाया।।
ज्यों नभ-मद्धे सुन्न देखिए, सुन्न अनन्त अकारा।।
निःअच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर विस्तारा।।
ज्यों रबि-मद्धे किरन देखिये, किरन मद्ध परकासा।।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा।।
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिए, अर्थ शब्द के माहीं।
ब्रह्म ते जीव जीवते मन यों, न्यारा मिला सदा हो।।
आपहि बृच्छ जीव अंकूरा, आप फूल फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ भाया।।
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया।
निःअच्छर अच्छर धर आपै, मन जीव ब्रह्म समाया।।
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँईं।
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै कबीरा साँईं।।

[४७]

साधो, सब्द-साधना कीजै।
जे ही शब्द ते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै।।

शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै ।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तर-गति सूझै ॥
शब्दै वेद-पुरान कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत हैं, शब्द-भेद नहिं पावै ॥
शब्दै सुन-सुन भेष धरत हैं, शब्दै कहै अनुरागी ।
षट्-दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहे वैरागी ॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा ।
कहैं कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा ॥

[४८]

अवधू, भजन भेद है न्यारा ।
क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा ॥
क्या संध्या-तरपन के कीन्हें, जो नहिं तत्त विचारा ।
मूँड़ मुड़ाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा ॥
क्या पूजा पाहन की कीन्हें, क्या फल किये अहारा ।
बिन परिचे साहिब हो बैठे, विषय करै व्यौपारा ॥
ज्ञान-ध्यान का मर्म न जानै, बाद करै अहंकारा ।
अगम अथाह महां अति गहरा, बीज न खेत निवारा ॥
महा सो ध्यान मगन ह्वै बैठे, काट करम की छारा ।
जिनके सदा अहार अंतर में, केवल तत्त विचारा ॥
कहैं कबीर सुनो हो गोरख तारौं सहित परिवारा ॥

[४९]

रस गगन गुफा में अजर झरै ।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै ॥
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने,
तेहि चढ़ि हंसा केलि करै ॥
बिन चंदा उजियारी दरसै,
जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥

दसवें द्वार तारी लागी,
अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै,
काम - क्रोध - मद - लोभ जरै ॥
जुगत जुगत की तृषा बुझानी,
कर्म - मर्म - अघ - व्याधि टरै।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
अमर होय कबहूँ न मरै ॥

[५०]

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै,
तेज पुँज तहाँ प्रान उतारै ॥
पाती पंच पहुप करि पूजा,
देब निरंजन और न दूजा।
तनमन सीस समरपन कीन्हां,
प्रगट जोति तहाँ आतम लीनाँ।
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा,
परं पुरिख तहाँ देब अनंता ॥
परम प्रकास सकल उजियारा,
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥

———

परिशिष्ट (अध्ययन के सूत्र)

[क] पारिभाषिक शब्दावली
[ख] कठिन शब्दों एवं स्थलों का स्पष्टीकरण
[ग] विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी ग्रन्थ-सूची

(क) पारिभाषिक शब्दावली

१. **हठयोग** (योग साधना की तन्त्र प्रभावित विशेष प्रकार की साधना-पद्धति इसके आदि उपदेष्टा आदिनाथ, शिव अथवा गुरु मत्स्येन्द्रनाथ माने गये हैं। इसके विशेषज्ञ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि प्रसिद्ध योगी थे। हठयोग के उपदेश का लक्ष्य है--राजयोग या समाधियोग की प्राप्ति।

हठयोग के चार अंग हैं--(१) आसन, (२) प्राणायाम, (३) मुद्रा, और (४) नादानुसंधान। वस्तुतः प्रथम तीन ही हठयोग के अन्तर्गत हैं; नादानुसंधान लय योग है।

२. **षटदल षटचक्र**--हठयोग के अन्तर्गत मेरुदण्ड में छः चक्र माने गये हैं जिन्हें 'षटचक्र' कहा जाता है। आकार की समता के कारण इन्हें 'कमल' भी कहा जाता है। पहला चक्र गुदा के समीप 'मूलाधार चक्र' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें चार दल होते हैं। यह पृथ्वी तत्व का दर्शक माना जाता है। चारों दल प्राण शक्ति के सहारे उत्पन्न होते हैं। यही कुंडलिनी को आकृति प्रदान करते हैं। इस चक्र के नीचे कुंडलिनी, जो कि वास्तव में मूल शक्ति है, स्वयंभू लिंग के त्रिकोणाकार अग्नि चक्र में साढ़े तीन कुण्डली मार कर सोती है। जो हठयोग का साधक इस मूलाधार चक्र की साधना में सफल हो जाता है, उसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मदेव इस चक्र के देवता हैं। दूसरा चक्र 'स्वाधिष्ठान' चक्र है। यह नाभि के पास होता है तथा इसमें छः दल होते हैं। इस चक्र का रंग रक्त वर्ण माना जाता है। विष्णु भगवान इस चक्र के देवता माने जाते हैं। 'स्वाधिष्ठान' चक्र से तनिक ऊपर तीसरा चक्र है जो कि 'मणिपुर चक्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इस चक्र में दस दल माने गये हैं तथा इसका रंग सुनहला होता है। इसके देवता रुद्र हैं। हठयोग का साधक जब इस चक्र की साधना में सफल हो जाता है तो वह सर्वगतिमय हो जाता है और उसे पाताल नामक सिद्धि प्राप्त होती है। चौथा चक्र 'अनाहत् चक्र' के नाम से प्रसिद्ध है, इसे हृत्पद्म भी कहते हैं। इसमें बारह दल होते हैं और यह रक्त वर्ण का होता है। इस स्थान में जीवात्मा का वास होता है। इसकी साधना में सफलता प्राप्त करने पर साधक को खेचरी शक्ति मिलती है। पाँचवाँ चक्र कण्ठ के पास 'विशुद्धाख्य चक्र' है जिसमें १६ दल होते हैं। इस चक्र का कुछ अंश शुभ्र होता है। इसके देवता अर्धनारी-नरेश्वर माने जाते हैं। छठा चक्र 'आशा चक्र' है। यह भूमध्य में स्थित होता है तथा इसमें दो दल होते हैं। इसका रंग कुछ स्वर्णिम माना गया है। इस चक्र के दोनों ओर

इड़ा और पिंगला वरुणा और असी की भाँति होती हैं, इसलिए योगियों में यह स्थान वाराणसी के नाम से प्रसिद्ध है जिसके देवता विश्वनाथ माने गये हैं। साधक जब इस स्थान पर, जिसे **त्रिकुटी** कहा जाता है, पहुँच जाता है तो उसे दिव्य दृष्टि की प्राप्ति होती है और फिर उसे साधना में अवरोह या पतन का भय नहीं रहता। इन्हीं छह चक्रों को भेदकर कुण्डलिनी अन्तिम चक्र में पहुँचती है, जिसमें सहस्र दल होते हैं, इसलिए उसे सहस्रार चक्र या सहस्र दल कमल कहते हैं। इसमें शिव का निवासस्थान होता है जिसके कारण इसे कैलाश की संज्ञा दी गई है। कैलाश के कारण इसी में मान-सरोवर की स्थिति मानी जाती है जिसमें निर्लिप्त चित्त रूपी हंस निवास करता है।

कबीर पर हठयोग की चक्रभेदन प्रक्रिया का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने चक्रों के बड़े रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये हैं। निम्नोद्धृत अवतरण में उन्होंने षटदल कमल निवासी 'मन के मोहन बीठुला' में अपना मन लगाया है।

"मन के मोहन बीठुला यह मन लागो तोहिं रे।
चरन कमल मन मानिया और न भावै मोहिं रे॥"

३. नाद और बिन्दु—योगियों ने सृष्टि के मूलतत्व के सम्बन्ध में नाद एवं बिन्दु की कल्पना की है। नाद 'शब्द' का पर्याय होने के कारण वह तत्व है जिसके द्वारा अव्यक्त व्यक्त के रूप में आया और सृष्टि का क्रम आगे बढ़ा। वही नाद मानव शरीर के भीतर भी व्यष्टि रूप में वर्त्तमान है। योगीजन उसकी अनुभूति साधना की पूर्ति होने पर करते हैं। इस नाद से ही ज्योति का भी आविर्भाव होता है। यह नाद हमारे भीतर परमात्मतत्व का प्रतिनिधित्व करता है और इसे शिव का नाम भी दिया जाता है। इसके विपरीत 'बिन्दु' उस 'शक्ति' का परिचायक शब्द है जिसके शिव के साथ मिलन को प्रत्येक साधक अपनी अभीष्ट समझा करता है। इस बिन्दु को योगियों ने जीवनतत्व भी कहा है और अन्यत्र उसे जीव शक्ति के रूप में 'वीर्य' का भी पर्याय माना है। बिन्दु की साधना इसी कारण ब्रह्मचर्य की साधना का ही एक दूसरा नाम है। गुरु गोरखनाथ ने नाद में लय पाने की सिद्धि के विषय में कहा है कि वह किसी विरले को ही प्राप्त हो पाती है, किन्तु जो इसे साध ही लेता है वह सिद्ध भी हो जाता है।

सिद्धों में नाद बिन्दु शब्दों का अनेक जगहों पर उल्लेख मिलता है। अधिकांश सिद्ध वाममार्गी थे। अतः ब्रह्मचर्य के विरोधी होने के कारण नाद बिन्दु साधना के सात्विक स्वरूप में विश्वास नहीं करते थे। यही कारण है कि सिद्ध मत में इस साधना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना कि उनकी प्रतिक्रिया के रूप में उदय हुए सात्विक नाथ पंथ में।

नाद-बिन्दु शब्दों का प्रयोग कबीर ने भी किया है। इन दोनों शब्दों को वे प्रायः उन्हीं अर्थों में ग्रहण करते थे जिन अर्थों में गोरखनाथ जी। बिन्दु की साधना वे उप-साधना के रूप में मानकर भगवद्भक्ति को ही मूल साधना मानते थे, यथा—

नाउ व्यंड की नावरी, रामनाम कनिहार।
कहै कबीर गुल गाहिले, गुरु गमि उतरौं पार॥

कबीर के अनुसार नाद और बिन्दु साधना उस नाव के समान है जिसके लिए रामनाम रूपी कर्णधार अपेक्षित होता है। वे कोरी नाद बिन्दु साधना को नाव के समान शुष्क एवं जड़ मानते थे। यही कारण है कि कोरी बिन्दु साधना की उन्होंने एक स्थल पर इस प्रकार से निन्दा की है—

'बिन्दु राख जो तरयै भाई।
खुस रै क्यों न परम गति पाई॥'

(क० ग्रं० पृष्ठ नं० ३००)

कबीर ने इस नाद बिन्दु साधना को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। नाद से अधिकतर उन्होंने अनहदनाद का अभिप्राय लिया है तथा बिन्दु से असाधारण अर्थ ब्रह्मचर्य पालन ही लेते हैं। कहीं-कहीं पर उन्होंने नाथपंथियों के अनुसरण पर नाद परमात्मा और बिन्दु को जीवात्मा के अर्थ में भी प्रयोग किया है।

४. **अनहदनाद**—दर्शन के क्षेत्र में नाद ब्रह्मस्वरूप है। वह विभिन्न रूपों में साकार तथा निराकार उपासना क्षेत्रों में व्यक्त किया गया है। सगुणोपासना में शिव का डमरू तथा कृष्ण की मुरली ब्रह्मा के नाद रूप हैं और निर्गुण भक्ति में यही 'अनहद ढोल' मान लिया गया है।

समाधिस्थ योगियों को इस बात में विश्वास है कि वे अपने भीतर एक प्रकार की मधुर ध्वनि को श्रवण करते हैं। निखिल ब्रह्माण्ड एवं जगत के अन्तस्थल में अखण्ड नाद की ध्वनि निरन्तर होती रहती है तथा मानव शरीर के अन्तर्गत यह नाद प्रतिध्वनित होता है। विद्वानों ने इसे विश्व का मधुरतम संगीत माना है लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए संगीत या नाद ध्वनि श्रवण कर सकना सम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य की सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग प्रायः अवरुद्ध रहा करता है जिसके कारण उसके मन की वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं हो पाती है और बिना अन्तर्मुखी वृत्ति के इस नाद की प्रतिध्वनि पिण्ड में सुनाई नहीं पड़ती। हठयोग के अन्तर्गत साधक कुण्डलिनी को जागृत कर प्राण वायु को सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर ले जाता है जो कि भीतर के छहों चक्रों तथा तीनों ग्रन्थियों का क्रमश-भेदन कर अन्त में स्थिर हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा प्राण वायु के ऊपर पहुँचते ही पहले समुद्र या मेघ के गर्जन जैसी ध्वनि सुन पड़ती है तत्पश्चात् यह भेरी, शंख, घंटा, आदि के शब्दों-सी जान पड़ती हुई, किंकिणी, वंशी, वीणा अथवा भ्रमर

गुँजन जैसी मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है। कबीर ने 'मूँद' लिये दरवाजे बाजिल अनहद बाजे' कहकर इसे स्पष्ट करना चाहा है तथा 'आँख कान मुख बन्द कराओ, अनहद झिंगा नाद सुनाओ' कहकर इसी बात की पुष्टि की है। यह अनाहत या अनहद नाद भक्तों की परमपद स्थिति के समान है। इसका श्रवण कर साधक के मन और प्राण निराकार ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं और वह रोम-रोम में हर्ष से पूरित होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करने लगता है। गोरखनाथ कहते हैं कि इस स्तर पर न निरति है न सुरति, न योग है, न भोग, न जरा है, न मृत्यु, न वाणी है और न ओंकार ही है—

निरति सुरति जोगं न भोगं मरण नहीं तहाँ रोगं ।
गोरख बोले एकंकारं नहिं तहँ बाचा ओंकारं ॥

यह अनहद नाद सुनकर साधक आनन्दातिरेक की किस स्थिति में पहुँच जाता है यह बात निम्नांकित पंक्तियों से भली-भाँति स्पष्ट हो जावेगी—

जब तें अनहद घोर सुनी ।
इन्द्री थकित गलित मन हुवा आसा सकल भुनी ॥
घूमत नैन शिथिल भई काया अमल जु सुरत सुनी ।
रोम-रोम आनन्द उपज करि आलस सकल भनी ॥

५. **अजपाजाप**—बिना जपे हुए जाप करने की क्रिया को 'अजपाजाप' की संज्ञा दी गई है। लेकिन इस क्रिया में निश्चित रूपादि की कल्पना से अभिभूत सीताराम, राधेश्याम, या नमःशिवाय आदि नामों को बाह्य उपादानों, जैसे माला आदि की सहायता से जाप न कर साधक को अपने शरीर की सुषुप्त आत्मा को जागृत करना पड़ता है। आत्मा की इस जाग्रतावस्था में साधक का अन्तःकरण प्रतिक्षण प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में नाम का जप करता रहता है। निर्गुण भक्ति धारा में विश्वास करने वालों के लिए नाम जप आदि सगुण भक्तिमार्गीय उपादानों की कोई आवश्यकता नहीं होती तथापि कबीर ने नाम सुमिरन में विश्वास किया है। वे कहते हैं—

'निरगुण राम जपो रे भाई।'

निरगुण अर्थात् रूपरेखा नाम गुनहीन ब्रह्म का जप करने से यहाँ पर कबीर का अभिप्राय बहिर्मुख होकर अन्तर्मुखी 'जप' से अर्थात् इसी अजपाजाप से है। निम्नांकित पंक्तियों में उन्होंने हाथ में माला लेकर जपने के बजाय मन की माला फेरने का आदेश दिया है, वे कहते हैं—

माला फिरता युग गया मिटा न मन का फेर ।
कर का मनका छोड़ि कै मन का मनका फेर ॥

इस मन की माला फेरने से उनका अभिप्राय अजपाजाप से ही है। इस अजपाजाप की चरमावस्था की ओर किया गया संकेत निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

मुख सों भजे सो मानवा, दिल से भजे सो देव।
जीव से भजे सो ज्योति में 'रज्जब' साँची सेव॥

चंचल मन चारों ओर घूमता रहता है। हाथ की माला और जीभ द्वारा किया गया जाप उसे एकाग्रचित्त होकर लक्ष्य सिद्धि प्राप्त कराने में निरर्थक सिद्ध होते हैं। अतः सन्तों ने मन ही मन जाप करने की विधि अपनाई है—

सतगुरु माला मन दिया पवन सुरति सूँ पोइ,
बिना हाथ निसि दिन जपै परम जाप यूँ होइ।

'अजपाजाप' की स्थिति में कबीर को माला जप एवं जिह्वा द्वारा उच्चारण आदि करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। निर्गुण सन्तों को इस अजपाजाप के रहस्य की उपलब्धि गोरखनाथ से हुई लेकिन उन्होंने इसे शून्य के भीतर ही जपने का विधान बनाकर अंगीकृत किया।

६. **"शून्य"**—"शून्य" शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ है "अभाव" किन्तु कबीर-साहित्य में इसका विशिष्ट अर्थ है—जो प्राचीन काल से विकसित होता हुआ उपनिषद् महाभारत काल तथा "सिद्धों नाथों" की प्रलम्ब परम्परा से गुजरता हुआ कबीर को प्राप्त हुआ और उनके द्वारा और भी पल्लवित एवं प्रचलित हुआ।

ब्राह्मण दर्शनों में "शून्य" शब्द का प्रयोग "सर्वसत्ता" के अर्थ में हुआ है, और माण्डूक्योपनिषद् की कारिकाओं में गौड़पादाचार्य ने इसी अर्थ में शून्य का प्रयोग किया है। महाभारत काल में "शून्य" परमतत्व की एक संज्ञा माना गया है और महात्मा भीष्म ने विष्णु के सहस्र नामों को गिनाते हुए उनका एक नाम "शून्य" भी गिनाया है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने "शून्य" की व्याख्या में "शून्य" को परमशक्ति का एक नाम माना है।

तथागत बुद्ध ने "सर्व शून्य" कहकर संसार की एवं आत्मा की अनित्यता के अर्थ में उसका व्यवहार किया और परवर्ती बौद्धों ने—मुख्यतः प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने—शून्य की व्याख्या करते हुए उसे "न सत् न असत्, और न सत् असत्" की स्थिति अर्थात् अनिर्वचनीय स्थिति का द्योतक माना है। महायान मत में शून्य परमार्थ सत्ता का वाचक माना जाने लगा। इस प्रकार समय के साथ-साथ "शून्य" का अर्थ-वैभव एवं स्वरूप-संख्या विस्तृत होती गई। सिद्धों एवं नाथों के काल में शून्य शब्द नाना अर्थों में प्रयुक्त होने लगा, यथा—परमज्ञान, परमतत्व, परमनाद, ब्रह्मरन्ध्र,

दशमद्वार, सहस्रारचक्र, गगन मण्डल, समाधि या केवलावस्था, देशकालपरिछिन्न ब्रह्म, सुषुम्ना नाड़ी, अनाहत चक्र आदि।

कबीर ने "शून्य" को उसके सिद्ध एवं नाथकालीन अर्थ-वैभव के साथ ही ग्रहण नहीं किया है, अपितु अपनी गम्भीर आस्तिकता के परितोष के लिए उन्होंने शून्य को "भाव-ब्रह्म" के अर्थ में स्वीकार कर उसके अर्थ - वैभव में मौलिक योगदान भी दिया है।

अर्थ-विस्तार क्रम से शून्य की स्वरूप-संख्या भी विस्तृत हुई है और इस ओर भी कबीर का योगदान है। वज्रयानी साहित्य, हठयोग प्रदीपिका तथा दादू साहित्य तक में नामों के साधारण हेर-फेर के साथ "शून्य" के चार स्वरूपों की ही कल्पना की गई है (काया शून्य, आत्म शून्य, परम शून्य, सहज शून्य) किन्तु कबीर ने सात स्वरूपों की उद्भावना की है (चार असंख्य शून्य + दो सशून्य + एक शून्य) जो नवीन ही नहीं मौलिक भी है। कबीर का शून्यवाद बौद्धों के शून्यवाद से भिन्न है। उनका शून्यवाद एक सच्चे श्रद्धालु और आस्तिक भक्त का शून्यवाद है।

७. **सुरति**—संत साहित्यान्तर्गत 'सुरति' शब्द का अत्यधिक महत्त्व है किंतु इस शब्द के उद्भव एवं निश्चित अर्थ पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ा है। हिंदी में सुरति के कई अर्थ हो सकते हैं जैसे प्रेम क्रीड़ा, स्मृति, श्रुति। कोई इसे 'स्मृति' का अपभ्रंश मानते हैं, कोई 'स्रोत' का। कुछ विद्वानों का मत है कि आत्मोन्मुख रति अर्थ का द्योतक 'सुरति' न होकर 'स्वरति' है और लौकिक भाषा विकास के फलस्वरूप स्वरति का सुरति हो गया तो कुछ विद्वान 'सुरति' (श्रेष्ठ रति) को अपने मूल रूप में ही शुद्ध स्वीकार करते हैं। 'सुरति' शब्द का प्रयोग सिद्धों ने अपने दोहों में किया है। सरहपा इसे कमल कुलिश योग के अर्थ में काम-क्रीड़ा का द्योतक मानते हैं यथा—'कमल कुलिश वेवि मज्झठिअ जो सो सुरअ विलास' (दोहाकोष) किन्तु नाथ सम्प्रदाय में इसे श्रुति (नाद या शब्द) के अर्थ में ग्रहण किया गया है। संतों ने भी 'सुरति' शब्द का प्रयोग 'श्रुति' के अर्थ में किया है यथा—

सुरति समानी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यंभू दुआर॥
सुरति समाणी निरति में अजपा माहैं जाप।
लेख समाणा अलेख में, यों आपा माहैं आप॥

सन्तों ने अपने काव्यों में कहीं-कहीं पर सुरति का प्रयोग स्मृति के पर्याय के रूप में किया है। दादू ने तो स्पष्टतः स्मृति अर्थ स्वीकार करते हुए कहा है कि सुरति को परिवर्तित करके उसे आत्मा के साथ मिला दो—

'सुरति अपूठी फेरि करि आतम माहे आणि'

लेकिन, दरिगा साहब, फूलदास तथा कबीरदास ने भी कुछ स्थलों पर सुरति को जीवात्मा के रूप में स्वीकार कर उसके त्रिकुटि (गुप्तकाशी) सैर आदि का सविस्तार वर्णन उपस्थित किया है, जिससे 'स्मृति' अर्थ को सदा स्वीकार करने में बाधा पड़ती है। स्मरण या स्मृति साधना में अवश्य एक आवश्यक अंग है परन्तु स्मरण के लिये 'सुमिरण' और 'स्मृति' (याद नहीं) के लिए 'सुमृति' रूप हमें कबीर में मिलते हैं। सुरति का मूल श्रुति का है इसे स्पष्ट करने के लिए निम्नांकित पंक्ति द्रष्टव्य है—

सुरति सुमृति दोइ खूँट की कीन्हीं आरम्भ किया बमेकी।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्वत्र संतों ने 'सुरति' का कोई एक निश्चित अर्थ ग्रहण कर उसका प्रयोग किया हो। सन्तों ने प्रायः जहाँ और जब जिस अर्थ की माँग की है उनकी पूर्ति इसके द्वारा की गई है। कबीर ने कहीं पर 'सुरति' से नृत्य' का अर्थ लिया है तो कहीं 'समाधि' का, कहीं 'सुमिरन' का तो कहीं 'मन' का। कहीं वह प्रेम बन गया है और कहीं राग भी।

८. **निरति**—सुरति के साथ ही निरति शब्द का प्रयोग सन्त साहित्य में बहुधा होता है जैसे—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयम्भू दुआर॥

जिस प्रकार सुरति शब्द का प्रयोग सन्त-साहित्य में अनेकार्थक रूप में हुआ है उसी प्रकार यही बात 'निरति' शब्द के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सुरति के समान 'निरति' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं। कुछ विद्वान 'निरति' का मूल 'निर्ऋति' शब्द को मानते हैं।

सुरति के पथ पर अग्रसर होती हुई जीवात्मा जब परमात्मा से तदाकार सम्बन्ध स्थापित करने की स्थिति में आती है तब निरति अर्थात् निरतिशय रति की स्थिति आ जाती है। अतएव कुछ लोग निरति को सुरति की परिणति अवस्था बतलाते हैं जो कि आत्मा के ब्रह्ममय होने की तद्रूपावस्था का सूचक है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'सुरति' और 'निरति' आत्मा के ही परस्पर दो विभिन्न रूप माने गये हैं। शरीर के भीतर दो प्रकार की आत्मा रहती है—एक वह जो संसार का उपभोग करती है और दूसरी वह जो संसार से नितान्त उदासीन रहा करती है। जो संसार का उपभोग करती है वह आत्मा जगत में पूर्णरूपेण रत (सुरत) है और जो संसार से उदासीन एवं तटस्थ है वह एकदम निर्लिप्त अर्थात् निरत है। उपर्युक्त दोहे में सुरति निरति में लीन हो गई है तथा दानवी वृत्ति जो कि माया में फँसकर लौकिक उपादानों की ओर प्रेरित करती है जब देवी वृत्ति जो कि संसार से तटस्थ ब्रह्मस्वरूपिणी है, द्वारा संयत एवं शुद्ध हो जाती है अर्थात् जब संसार में लिप्त आत्मा और संसार से तटस्थ, ब्रह्मस्वरूप आत्मा

में अभेद हो जाता है तब पूर्णरूप से अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है।

९. **उन्मनी**—'आज्ञाचक्र' के समीप ही कारण शरीर से सम्बन्धित सात कोष माने गये हैं। जिनमें से एक 'उन्मनी' भी है। साधक इस उन्मनी कोष में पहुँचने पर पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होता है और वह समाधिस्थ होकर अजर अमर हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ साधक निरन्तर अमृत रस पान किया करता है। कबीर ने निम्नांकित पंक्तियों में इसी उन्मनी स्थिति का वर्णन किया है—

'उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया'
अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ़ा मगन रस पीवै,
त्रिभुवन भया उजियारा॥

कबीर ने उन्मनि शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। नाथपन्थी हठयोगी इस शब्द का बहुत प्रयोग करते थे। उन्मनावस्था में साधक को आनन्द की अनुभूति होती है। एक स्थल पर गुरु गोरखनाथ ने लिखा है—

'उन्मनि लागा होइ अनन्द'—(गो. बा. पृ. ४५)

वास्तव में उन्मनि को 'तुरीयावस्था' कहा जा सकता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए साधक त्रिकुटी पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उसका शरीर बाह्य बातों से एकदम विरक्त अथवा उदासीन हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त कर साधक द्वैत भाव को भूल कर पूर्ण द्वैतावस्था की अनुभूति करने लगता है।

कहीं-कहीं कबीर ने 'उन्मनि' शब्द का विशेषण के रूप में भी प्रयोग किया है, जैसे—

उन्मनि मनुआँ सुन्य समाना,
दुविधा दुर्गति भागी॥

इससे प्रकट होता है कि उन्मनि अवस्था शून्य में केन्द्रित अर्थात् समाहित होने में समर्थ होती है। कबीर ने इस शब्द का प्रयोग ध्यानमग्नावस्था, समाधि एवं विशेषण रूप में प्रयुक्त होने पर समर्थ स्थिति के रूप में ही अधिकतर किया है।

१०. **सहज**—'सहज' शब्द भहज मतवादियों का है। सहज मतवादी, निवारतीय, निव्युत्ताय एवं व्रात्य आदि का वर्णन वेदों में मिलता है। ये सहजवादी अधिकतर पुरुषवादी होते थे और मनुष्य को ही सबसे अधिक महत्त्व देते थे। सिद्धों ने सहजावस्था को द्वैताद्वैत विलक्षण की स्थिति माना है। नाथपन्थियों ने इस शब्द

का बहुत कम प्रयोग किया है। नाथ पन्थी सहजयोग में विश्वास न करके हठयोग में विश्वास करते थे। जहाँ कहीं भी उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया है वहाँ वह 'स्वाभाविक' का ही पर्यायवाची प्रतीत होता है। गोरख एक स्थल पर कहते हैं—

गिरही जो सो गिर है काया, अभ्यन्तर की त्यागे माया।
सहज सील का धरै शरीर, सो गिर ही गंगा का नीर॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धि का पारिभाषिक सहज नाथों में आकर 'स्वाभाविक' का वाचक बन गया था।

महात्मा कबीर ने 'सहज' शब्द का प्रयोग सहजवादियों के 'सहज' से बिल्कुल भिन्न अर्थ में किया है। उन्होंने परम्परागत सहजवाद की उपेक्षा कर उसके स्वरूप का अपने ढंग पर निरूपण किया। कबीर के अनुसार सहजवाद भक्ति के सहज प्राप्ति से सम्बन्धित है, सिद्धों के समान जीवन के सहज उपभोग से नहीं। इनके सहजवाद का लक्ष्य स्वाभाविक गति से वैराग्य और भक्ति की प्राप्ति करना था। इस दृष्टि से उनकी निम्नांकित साखियाँ द्रष्टव्य हैं--

सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्हें कोय।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कही जै सोय॥
सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्हें कोय।
पाँचू राखै परस्ती, सहज कहीं जै सोय॥
सहजै सहजै सब गये, सुति वित कामणि काम।
एके एक ह्वई मिल रहा, दास कबीरा राम॥
सहज सहज सब कोय कहै, सहज न चीन्हें कोय।
जिन सहजै हरि जी मिले, सहज कही जै सोय॥

कही-कहीं कबीर ने 'समाधि' और नादस्वरूपी ब्रह्म के पर्याय के रूप में भी सहज शब्द का प्रयोग किया है और कहीं पर इसका प्रयोग उन्होंने निर्गुण ब्रह्म के अर्थ में किया है। कबीर की सहज साधना सात्विक भक्ति विशिष्टाद्वैत मूलक कही जा सकती है।

सहज भाव से सदाचारी बनकर भगवान में भक्ति रखना कबीर के सहजयोग का लक्षण था। सहज समाधि का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है—

आत्मा अनन्दी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी।
ब्रह्म अगनि काया पर जारी। अजपा जाप उन्मनी तारी॥
त्रिकुटि कोट मैं आसण माँड़ै। सहज समाधि विषै सब छाँड़ै।
त्रिवेणी विभूति करै मन रंजन। जन कबीर प्रभु अलख निरंजन॥

कबीर ने सहज योग में मन साधना पर अधिक जोर दिया है जो निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट है—

सो जोगी जाकै मन में मुद्रा,
रात दिवस न करई निद्रा ॥

मन में आसण मन में रहणा, मन का जप तप मन सूँ कहणा ।
मन में षपरा मन में सींगी अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सोलह सै लंका ।

११. **त्रिकुटी**—योग में 'त्रिकुटी' शब्द से तात्पर्य दोनों भौहों के बीच नासिका मूल के ऊपर के स्थान विशेष से है जहाँ 'आज्ञा' चक्र की स्थिति मानी गई है। यह स्थान साधना की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। योगियों ने इस दो दलयुक्त त्रिकुटी को 'गगन', सन्तों ने 'काशी' और कबीर ने 'असंख्य ताराओं की चमक के बीच बिजली की ज्योति' रूप में देखा है।

१२. **त्राटक**—योगमार्ग में आँखों को एक निश्चित बिन्दु पर देर तक टिकाने और चित्त की एकाग्र स्थिति के पूर्वाभ्यास के लिए अनेक प्रकार के उपाय काम में लाये जाते हैं जिन्हें त्राटक कहते हैं।

१३. **भँवर गुफा**—सहस्रार या अनाहत चक्र का पर्याय—जहाँ अनहद की झंकार सुनाई पड़ती है। इसी को दसवाँ द्वार भी कहते हैं। इसका अधिदेव "सोऽहंपुरुष" है।

१४. **कौल**—यह 'कुल' शब्द से बना है जिसका अर्थ कुंडलिनी शक्ति है। जो व्यक्ति सहस्रार चक्र में स्थित योगिराज शंकर से उसका योग करादे उन्हें ही कौल कहते हैं। औघड़ भी इन्हीं का पर्याय है।

———

(ख) कठिन शब्दों एवं स्थलों का स्पष्टीकरण

साखियाँ—१-९ तक "गुरुदेव कौ अंग" से उद्धृत की गई हैं। इस अंग में कबीर ने गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि गुरु के समान कोई भी हितैषी और सगा नहीं है, वह क्षण भर में मनुष्य को देवता बना सकता है, अतः अनन्त और अवर्णनीय है।

१—शब्दार्थ—सवाँन—समान। सोधी—तत्वशोधक, ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक, साधु। सईं—समान। दाति—दाता।

भावार्थ—सद्गुरु के समान अपना सगा सम्बन्धी नहीं है। शोधक या साधु के समान कोई दाता नहीं है। हरि के समान कोई हितकारी नहीं है और हरि के भक्तों के समान कोई जाति नहीं है।

२—शब्दार्थ—द्यौं—दूँ। हाड़ी—शरीर।

भावार्थ—मैं अपने गुरु पर बलिहारी जाता हूँ और अपने शरीर को उनके ऊपर बार-बार न्योछावर करता हूँ जिन्हें मनुष्य से देवता बनाने में देर नहीं लगती।

३—शब्दार्थ—उपगार—उपकार। उघाड़िया—खोल दिया। लोचन अनन्त—दिव्य दृष्टि। अनन्त—प्रभु की अनन्त सत्ता।

भावार्थ—गुरु का गौरव असीम है। उन्होंने अनन्त उपकार किया है। मेरे अगणित ज्ञान-चक्षुओं को खोलकर असीम (ब्रह्म) का दर्शन कराने का श्रेय उन्हीं को है।

४—शब्दार्थ—सदकै—प्रणाम करना। साछ—साक्षी। मुहकम—बलशाली। बाछ=रक्षक।

भावार्थ—मैं सदगुरु को प्रणाम करता हूँ। मेरा हृदय इस बात का साक्षी है कि यद्यपि कलिकाल से मेरा संघर्ष हो रहा है फिर भी यह अडिग रहा क्योंकि बलशाली (गुरु) मेरे रक्षक हैं।

५—शब्दार्थ—बाहंण लागा—बेधने लगा। बाह्या—बेधा।

भावार्थ—सद्गुरु ने हाथ में धनुष ले लिया और उपदेश रूपी बाण चलाने लगे। उन्होंने एक उपदेश रूपी बाण ऐसे प्रेम से मारा कि वह शरीर के भीतर पैठ गया।

६--शब्दार्थ--उनमनी--हठयोग की एक दशा। देखिये परिशिष्ट (क)। मेल्ह्या--वृत्तियाँ।

भावार्थ--उन की चंचल वृत्तियों को नष्ट कर गुरु के उपदेश रूपी प्रेमपूर्ण बाण ने हृदय को भेद लिया, जिससे शिष्य सांसारिक हास-विलास तथा राग-विराग से उदासीन हो गया और योग की उनमन दशा को प्राप्त हो गया।

७--शब्दार्थ--जीव अपने अज्ञान एवं मोह रूपी अन्धकार के कारण चौरासी लाख योनियों में जन्म लेता है और तदनन्तर उसकी तीव्र इच्छा देखकर ईश्वर उसे मानव योनि में जन्म देता है लेकिन उस मन्द प्राणी की फिर भी आँख नहीं खुलती।

इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार है--

अज्ञान रूपी रात्रि के अन्धकार को दूर करने के लिए यदि चौरासी लाख चन्द्रमा एक साथ उदय हों तब भी रात की मन्दता (अँधेरापन) दूर नहीं हो सकती। यह तो ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर ही दूर हो सकती है।

८--शब्दार्थ--भेरा--बेड़ा, नाव। फरंकि--तुरन्त।

भावार्थ--भवसागर में डूब रहे थे किन्तु गुरु-कृपा की एक लहर (दया) के चमक जाने से पार लग गये। गुरुकृपा के कारण ही हमने देखा कि जिस वेद-शास्त्रादि के बेड़े से हम संसार पार करना चाहते थे वह तो जर्जर है अतः हम उससे तुरन्त कूद पड़े और अलग हो गये।

९--शब्दार्थ--तातै--तपा हुआ, गर्म। लोहिं--लोहा। कसणीं--कसौटी। ततसार--तत्वसार या ब्रहतत्व।

भावार्थ--सद्गुरु सच्चा वीर है। वह लुहार की भाँति लोहे रूपी शिष्य को उसी प्रकार योग्य बना देता है जैसे लुहार गर्म लोहे को पीट-पीट कर सुघड़ और सुडौल आकार दे देता है। वही शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपाकर स्वर्णकार की भाँति उसे ऐसा योग्य बना देता है कि वह कंचन की कसौटी पर शुद्ध खरा उतर कर तत्त्वसार या ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

साखियाँ--संख्या १०--१५ तक "सुमिरण कौ अंग" से ली गई हैं। इस अंग में कबीर ने नाम-स्मरण की महिमा बतलाई है और उसे समस्त वेद एवं शास्त्रों का सार कहा है। यही शिष्य के अहं को जड़ से नाश करता है और उसे प्रभु के निकट ले जाता है। जो मनुष्य नामस्मरण में रम जाता है वह सूर्य मंडल को भेदकर ब्रह्मलोक में निवास करने का अधिकारी बन जाता है।

१०--भावार्थ--भगवान् का नाम स्मरण ही समस्त तत्वों का सार है। हरि-

भक्ति के अन्य साधन जंजाल हैं। मैंने समस्त साधनों का अथ से इति तक अवलोकन करके देख लिया। वे काल के समान विनाषकारी हैं।

११—शब्दार्थ—च्यंता—चिंता। चितवै—चिंतन करे। पास—फंदा।

१२—शब्दार्थ—वासा—निवास स्थान। गोर—कब्र।

१३—शब्दार्थ—केसो—केशव, राम। 'जहाँ के सो तहाँ' करने से इसका अर्थ होगा—जो जहाँ का है सो वहाँ चला जाय।

भावार्थ—मनुष्य का मन जिस प्रकार माया से आसक्त होता है उसी तीव्रता के साथ यदि वह प्रभु में रम जाय तो साधक तारा मंडल अर्थात् इस भौतिक सृष्टि के परे जहाँ राम का निवास है वहीं पहुँच जाय (ब्रह्म में लीन हो जाय) अथवा जिस स्थान से आया था वहीं चला जाय।

१४—शब्दार्थ—संधे संधि मिल.प—प्रत्येक संधि में जोड़ मिलाकर।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि तू अपने मुख से राम के अमृत तुल्य गुणों का गान कर और उनसे अपना मन इस प्रकार जोड़ दे जैसे हीरा के टूट जाने पर उसकी संधि से संधि मिलाकर उसे पुनः जोड़ देते हैं, वैसे ही तू ब्रह्म से अभिन्नत्व प्राप्त कर ले। इसमें अंश-अंशी भाव का प्रतिपादन है।

१५—शब्दार्थ—लाइ—अग्नि।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि चित्त चंचल होने से चारों ओर वासना की आग लग गई लेकिन ईश्वर-स्मरण का घड़ा जब हाथ में है तो उससे आग तुरन्त ही बुझ जायेगी।

साखियाँ १६ से २४ तक "विरह कौ अंग" से ली गई हैं। इन साखियों में कबीर ने प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक माना है। विरह द्वारा ही आत्मा-परमात्मा की ओर दृढ़ता के साथ उन्मुख होती है। परमात्मा के दर्शन करने की जो तीव्र उत्कंठा आत्मा को होती है उसी विरह का वर्णन इस अंग में किया गया है। विरह प्रेम की कसौटी है, अतएव विरहिणी प्रियतम के विरह में अहर्निश जलती रहती है।

१६—शब्दार्थ—रात्यूं—रात भर। कुंज—क्रौंच पक्षी।

भावार्थ—विरहिणी (आत्मा) रात भर विरह में वैसे ही रोती रही जिस प्रकार विमुक्त क्रौंच पक्षी वियोग में करुण चीत्कार करता रहता है। कबीर कहते हैं कि उसका अन्तस्थल वियोगाग्नि से जलकर अपार विरह प्रकट कर रहा है।

१७—शब्दार्थ—कुरलियाँ—कुररी।

भावार्थ—बादल ने क्रौंच एवं कुररी पक्षियों के विरह-विलाप पर द्रवित होकर पानी बरसाया और ताल तलैय्यों को भर दिया। इन विरहणियों की पुकार तो बादल ने सुन ली किन्तु जो प्रभु से बियुक्त हैं उनकी कैसी दशा होगी ? उनकी कौन रक्षा कर सकता है।

१८—शब्दार्थ—ऊभी—खड़ी हुई। पंथ सिरि—मार्ग के किनारे। कबर—कब्र।

भावार्थ—विरहिणी (आत्मा) राह की गली में खड़ी है और उस मार्ग से जाने वाले पथिकों से दौड़कर पूछती है :—प्रिय का एक शब्द ही सुना दो, वे कब आकर मुझ से मिलेंगे ?

१९—शब्दार्थ—मूवाँ—मृत्यु। जिनि—यदि या मत।

भावार्थ—कबीर कहते हैं हे राम ! मृत्यु के पश्चात् दर्शन न देना क्योंकि तब ये उसी प्रकार निरर्थक हो जायेगा जिस प्रकार कोई पारस पत्थर की प्राप्ति के लिए लोहे को प्रत्येक पत्थर से घिसकर समाप्त कर दे और तब कहीं उसे पारस पत्थर की प्राप्ति हो।

२०—शब्दार्थ—करंक हड्डी, पंजर।

२१—शब्दार्थ—भुवँगम—साँप। बौरा—पागल।

२२—शब्दार्थ—नीझर—निर्झर। रहट—पानी निकालने का यंत्र।

भावार्थ—विरहिणी कहती है कि वियोग के कारण मेरे नेत्रों से आँसुओं का निर्झर रात-दिन उसी प्रकार बहता रहता है जिस प्रकार रहट से पानी निकल-निकल कर बहता रहता है। पपीहे के समान मैं पीउ-पीउ की रट लगा रही हूँ किन्तु पता नहीं —हे राम तुम कब मिलोगे ?

२३—शब्दार्थ—जलहरि—तालाब।

भावार्थ—विरहाग्नि द्वारा जलाई हुई मैं जल रही हूँ। जलन बुझाने के लिए जब मैं तालाब के पास जाती हूँ तो वह तालाब भी मुझे देखते ही जलने लगता है तब फिर मैं अपनी जलन को शान्त करने के लिए कहाँ जाऊँ ! यहाँ हरि रूपी जल ही तालाब है जो आत्मा की विरहाग्नि में जल कर आत्मा को अपने में लीन करता है

२४—शब्दार्थ—संपम—चकवा। भूरि—क्षीण। देवलि—मन्दिर। दहाड़ी —उच्च स्वर में चिल्लाना।

भावार्थ—हे वियोगी चक्रवाक (जीव) ! तू इस समय पड़ा रह। रात्रि का समय है और तू अपने प्रियतम से बहुत दूर है। उसके वियोग में तू निरर्थक घर-घर में दहाड़ मारकर चिल्ला रहा है और अपने को क्षीण बना रहा है। सूर्य उदय (ज्ञानोदय)

होने पर ही तुझे परमात्मा की प्राप्ति होगी। इसमें अन्योक्ति से पुष्ट सांगरूपक अलङ्कार है।

साखियाँ—२५, २६, २७ "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई हैं। निर्गुण मत में ज्ञान की महत्ता अत्यधिक है। इसके अनुसार जब तक जीव अज्ञान के अन्धकार में पड़ा रहेगा तब तक उसका प्रभु से साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः इस अंग में ज्ञान और विरह के समन्वय का वर्णन है। मन का विकार ज्ञान और विरह के योग से ही दूर हो सकता है।

२५—शब्दार्थ—दीपक—जीवात्मा। पावक—ज्ञान ज्योति। तेल—स्नेह, प्रेम। जोइया—प्रज्ज्वलित किया। आँण्या—लाया। पतंग—सांसारिक प्रलोभन।

भावार्थ—जीवात्मा रूपी दीपक में स्नेह (तेल) डालकर, ज्ञान ज्योति जलाकर प्रदीप्त किया गया। इस भाँति जब तीनों—आत्मा, स्नेह एवं ज्ञान—ने मिलकर प्रकाश किया तब उसकी 'लौ' में सांसारिक वासनाएँ एवं इच्छाएँ रूपी पतंगे जल-जलकर नष्ट होने लगे।

२६—शब्दार्थ—कंदू—कीचड़, पाप। जलिया—जल गया। झारि—सम्पूर्ण।

भावार्थ—मानस के प्रेम रूपी पानी में जब ज्ञान और विरह की अग्नि प्रज्ज्वलित हुई तब वासना रूपी समस्त कीचड़ (पाप) जलकर समाप्त हो गये। इस अद्भुत कृत्य (पानी में आग लगना) को देखकर देश-भर के ज्ञानी केवल विचार करते ही रह गये। उनकी समझ में यह रहस्य नहीं आया।

२७—शब्दार्थ—अहेड़ी—शिकारी, आखेटक (ज्ञान)। लाइया—लगा दी। मृग—जीव, मनुष्य। क्रीला—क्रीड़ा। दाझत—जलता है। वन—विषय वासना से पूर्ण मायावी संसार।

भावार्थ—आखेटक रूपी ज्ञान ने वन (संसार) में विरह की अग्नि लगा दी। बनवासी मृग (जीव और उसकी तृष्णा तथा मोह) उसे देखकर रोने व चिल्लाने लगा कि जिस वन में हमने क्रीड़ायें की थीं आज वही संसार जला जा रहा है। इसमें मृग पकड़ने की क्रिया का रूपक है।

साखियाँ—२८ से ३६ तक—ये साखियाँ "परचा कौ अंग" से ली गई हैं। इस अंग में कबीर ने आत्मा और परमात्मा के महामिलन की चर्चा करते हुए ब्रह्म के स्वरूप का परिचय दिया है। कबीर के अनुसार परमात्मा अनन्त तेज से युक्त है। कबीर ने फिर बताया कि ब्रह्म कमल के समान है और मन (आत्मा) भौंरे के समान है। ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग योग पन्थ है जिसका ज्ञान गुरु की कृपा से ही होता है।

जब आत्मा सांसारिक बन्धनों को तोड़कर निस्सीम प्रदेश में प्रवेश कर लेती है तभी उसे अमृत के समान ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है।

२८—शब्दार्थ—अनन्त—ब्रह्म। ऊगी—उदय हुई। सेणि—श्रेणी, समूह। पति—स्वामी, ब्रह्म। सुन्दरी—पत्नी अथवा आत्मा। कौतिग—आश्चर्य। दीठा—दिखायी दिया। तेणि—उसको।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि परमात्मा के सौन्दर्य का तेज ऐसा दिखाई पड़ता है, मानो अनेक सूर्यों का समूह उदित हो गया है। इस आश्चर्य को वही आत्मा-रूपी सुन्दरी देख सकती है जो अपने पति अर्थात् ब्रह्म के साथ अज्ञान रात्रि से जगकर जागृत अवस्था को प्राप्त हो गई है।

२९—शब्दार्थ—सायर—सागर। नीपजै—उत्पन्न होना। सुन्नि—शून्य।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जहाँ न तो सागर ही है न सीप ही हैं और न स्वाँति नक्षत्र की बूँद ही है फिर भी वहाँ उस (ब्रह्म रन्ध्र) के सबसे ऊँचे शिखर गढ़ पर मोती उत्पन्न होता है अर्थात् ईश्वर के दर्शन होते हैं।

३०—शब्दार्थ—उनमन—संसार से उदासीनता। देखिए परिशिष्ट (क)। विलग—अलग। लूँण—नमक। विलग—लय हो गया, मिल गया।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मेरा मन सांसारिक विषयों से विलग होकर उन्मना-वस्था में प्रवृत्त हो गया है और यह मन की उन्मनावस्था पहले से सर्वथा भिन्न है, पहले तो मन सांसारिक प्रलोभनों में भटकता था अब वह उनसे एकदम पृथक् है। अब तो वह ब्रह्म से ऐसे एकाकार हो गया है जैसे नमक पानी में और पानी नमक में मिलकर लय हो जाते हैं।

३१—शब्दार्थ—पाँणि—पानी, परमतत्व, ब्रह्म। हिम—बर्फ, स्थूल शरीर अथवा जीव।

भावार्थ—आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि जैसे बर्फ पानी से बनती है और नष्ट होकर फिर पानी के रूप में ही बदल जाती है वैसे ही जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है; मृत्यु होने पर वह पुनः उसी परमात्मा में लय हो जाता है। इस रहस्य का वर्णन करना अब और आगे असम्भव है। विशेष :—कबीर की निम्नलिखित साखी में भी यही भाव है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहि तथ कथ्यो ग्यानी॥

३२—शब्दार्थ—चौहटै—चौराहा, तात्पर्य संसार के बाजार से है। हाडी—माया, दलाल। मीराँ—स्वामी, गुरु, धार्मिक आचार्य। मिहर—कृपा।

भावार्थ—संसार रूपी बाजार के चौराहे पर जीवात्मा रूपी चिन्तामणि बिकने के लिए पहुँची तो माया (दलाल) ने उस पर अपना हाथ साफ कर ही तो दिया अर्थात् माया ने उसे हड़पने की घात लगा दी। अब आत्मा रूपी मणि व्याकुल होकर प्रार्थना करती है कि हे मेरे मीर, सद्गुरु दया करो। मुझे इस माया भ्रम से बचा लो। अब मैं फिर कभी इन प्रपञ्चों में न पड़ूँगी।

३३—शब्दार्थ—सुरति—स्मृति, प्रभु-प्रेम, इड़ा। देखिए परिशिष्ट (क)। निरति—संसार से वैराग्य अर्थात् ईश्वर-प्रेम, पिंगला। देखिए परिशिष्ट (क)। स्यंभ दुवार—शम्भु का द्वार, ब्रह्म रन्ध्र। देखिए परिशिष्ट (क)।

साधारण अर्थ—जब साधक की ध्यानावस्था का ईश्वर प्रेम के साथ तादात्म्य हो जाता है तो ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। साधक की स्मृति में जब ईश्वर-प्रेम का सम्मिश्रण हो जाता है तो शम्भु का द्वार खुल जाता है और ईश्वर-प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

इसका साधना परक अर्थ इस प्रकार है—जब इड़ा, पिंगड़ा नाड़ी में मिल जाती है और पिंगला मूलाधार से अपना सम्बन्ध तोड़ देती है तभी प्रभु-प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि ऐसी ही स्थिति में कुण्डलनी के लिए ब्रह्म रन्ध्र का द्वार खुल जाता है और वह ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है जहाँ शिव परम शक्ति का निवास स्थान है। इड़ा पिंगला के मिलन से ही ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव है।

३४—शब्दार्थ—मानसरोवर—मानसरोवर झील, हृदय। हंसा—हंस, जीव।

भावार्थ—हृदय का मानसरोवर भक्ति के सुन्दर जल से भरा हुआ है जिसमें मुक्त आत्मारूपी हंस क्रीड़ाएँ कर मुक्ति रूपी मोती चुगते हैं, इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है, इसी से वे अन्य किसी स्थान पर उड़कर नहीं जाते।

३५—शब्दार्थ—गगन गरजि—अनहदनाद। देखिए अनहदनाद परिशिष्ट (क) में। कँवल—सहस्रदल कमल।

भावार्थ—इस साखी में साधना पक्ष की कठिनाई का वर्णन है। कबीर कहते हैं कि शून्य रूपी आकाश में जहाँ अनहदनाद रूपी बादल गरजकर अमृत की वर्षा करते हैं वहाँ स्मृति की डोरी के ऊपर अथवा मेरु दण्ड रूपी कदली के ऊपर सहस्रदल कमल विकसित होता है। ऐसे स्थान पर अर्थात् साधना की इस चरमावस्था पर या तो कबीर ही पहुँचकर बन्दगी करते हैं या ईश्वर का कोई और अनन्य भक्त ही।

३६—शब्दार्थ—निपजै—उत्पन्न होना। पारपू—परख करने वाला।

भावार्थ—कबीर ने इस साखी में प्रभु मिलन के सुख का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि वहाँ निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है जिससे ज्ञान का हीरा उत्पन्न होता है, अनहदनाद की ध्वनि होती रहती है। कबीर यद्यपि जुलाहा जाति का है फिर भी वह ब्रह्म ज्ञान के हीरे की परख करना जान गया है और वह इस संसार सागर को निडर होकर पार कर गया है।

साखियाँ—३७—३८ "रस कौ अंग" से ली गई हैं। इस अंग में कबीर ने ब्रह्मानन्द के स्वरूप एवं उसके प्रभाव का वर्णन किया है। उसका कथन है कि जो इस रस का पान कर लेता है, उसके सारे सांसारिक दुःख, कष्ट दूर हो जाते हैं और वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह रस पीने में अत्यन्त मधुर होता है, किन्तु इसे पान करने का वही अधिकारी हो सकता है जो अपना सिर उतार कर साधना की देवी पर चढ़ा दे। जो इस रस को पी लेता है उसे फिर और कोई रस अच्छा नहीं लगता और वह सदा इसी रस के नशे में मस्त बना रहता है।

३७—शब्दार्थ—थाकि—थकान। पाका—पक्का। कलश—घड़ा।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मैंने ब्रह्म भक्ति का रस इतना पी लिया है कि सांसारिक कष्टों के कारण जो थकान हो गई थी वह बिल्कुल ही गिर गई है। जैसे कुम्हार का पक्का घड़ा फिर चाक पर नहीं चढ़ाया जा सकता उसी प्रकार ब्रह्मानन्द का पान करने के बाद आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में भटकना नहीं पड़ता है।

साखी ३८—सरल है।

साखियाँ ३९, ४०—"लांबि को अंग" से ली गई हैं। लांबि शब्द लम्बाई का बिगड़ा रूप है जिसका तात्पर्य ब्रह्म की व्यापकता से है। इस अंग में आत्मा और परमात्मा के बीच पड़ने वाले व्यवधानों की ओर संकेत है। हरिदर्शन के बिना जीवन की प्यास नहीं बुझती, हरिदर्शन हरि के प्रति ऐसे उत्कट अनुराग के द्वारा प्राप्त होता है जिसमें भक्त अपनी समस्त सीमाओं को भुला देता है—अपने अस्तित्व को भुलाकर तदाकार हो जाता है।

साखी ३९—सरल है।

४०—शब्दार्थ—हेरत-हेरत—खोजते-खोजते। हिराइ जाना—खो जाना। समद—समुद्र।

भावार्थ—कबीर कहते हैं हे सखी! ब्रह्म को खोजते-खोजते मैं स्वयं खो गया। जो बूंद समुद्र में जाकर मिल जाती है उसे अलग देखना असम्भव है, उसी प्रकार परमात्मारूपी संसार में आत्मारूपी गुण का पता नहीं लगाया जा सकता है।

साखियाँ ४१, ४२—**"निहकर्मी-पतिव्रता कौ अंग"** से ली गई हैं। इसमें आत्मा उस पतिव्रता नारी के समान चित्रित की गयी है जो निष्काम भाव से अपने पति से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर रहती है और उसकी दर्शन-प्राप्ति के लिए अनेक उपाय करती रहती है।

४१—शब्दार्थ—स्यंदूर—सिन्दूर।

४२—शब्दार्थ—सकामता—कामनामय।

साखियाँ—४३, ४४, ४५, ४६ **"चितावणी कौ अंग"** से ली गई हैं। इस अंग में संसार की क्षण-भंगुरता और नश्वरता का वर्णन हुआ है। कबीर ने इसमें मनुष्य को चेतावनी दी है कि वह संसार के विषयों को छोड़कर भगवान का स्मरण करता रहे।

४४—शब्दार्थ—पाटण—नगर, शरीर। पंच चोर—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। दसद्वार—दस छिद्र। भेलिसी—नष्ट करेगा।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि यह शरीर रूपी कारवाँ आत्मारूपी धन को लेकर चल रहा है। इसके साथ ५ चोर उस धन को चुराने के लिए चल रहे हैं। इसमें दस द्वार हैं—उससे शरीर रूपी कारवाँ की दशा और भी बिगड़ गई है—क्योंकि इन छिद्रों द्वारा इन ५ चोरों का घुसना और भी सुगम कार्य हो जाता है। यमराज भी इस किले को नष्ट करने के लिए आक्रमण करेगा। अतः हे मनुष्य! उस ब्रह्म का स्मरण कर ले।

सांगरूपक अलंकार है।

४५—शब्दार्थ—'धंधै'—कर्म—(लौकिक कर्म तथा आध्यात्मिक) धूलि—धूल, धुलना और साफ होना। बिनठे मूल—जड़ से ही नष्ट हो गए।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य इस संसार में कर्म में प्रवृत्त रहते हैं उनकी आत्मा स्वच्छ हो जाती है। बिना कर्म के आत्मा 'स्वच्छ' नहीं हो सकती। उन मनुष्यों का तो जड़ से ही नाश हो गया जो कर्म करते हुए ईश्वर की आराधना में नहीं लगे। इस साखी में, कबीर ने कर्म के महत्त्व को प्रतिपादित किया है और निठल्ले साधुओं की निष्क्रियता के प्रति अलक्ष्य रूप से संकेत किया है।

४६—शब्दार्थ—काँची—केंचुली। बियाधि—बहेलिया, शिकारी।

भावार्थ—हे मनुष्य! तू अपनी इस शरीर रूपी केंचुली को वासना-पंक से काली मत कर। कालरूपी ब्याध तुझे दिन-प्रतिदिन अपना लक्ष्य बनाता बढ़ा आ रहा है। कबीर ने तो अपनी रुचि ईश्वर-भक्ति की ओर मोड़ दी है, यही सांसारिक तापों की एक मात्र औषधि है।

साखियाँ—४७, ४८, ४९ **"मन कौ अंग"** से उद्धृत की गई हैं। इस अंग में कबीर ने मन की चंचलता का वर्णन किया है और बताया है कि मन को बिना वश में किए हुए प्रभु-भक्ति सम्भव नहीं। मन चंचल, आडम्बरी और द्विविधा वाला होता है।

४७—शब्दार्थ—बाँणि—आदत। ताकू—तकुआ। अपूठा—कच्चा, अपुष्ट

भावार्थ—हे जीवात्मा तुझे मन के पीछे नहीं चलना चाहिए। तू अपनी इस आदत (मन का अनुगमन करने की) को छोड़ दे। तू अपने मन को संसार से उदासीन कर ब्रह्म से उसी प्रकार लगा दे जिस प्रकार सूत कातते समय तकुए पर चढ़े कच्चे सूत को खींचकर अड़िया पर बार-बार लपेट देते हैं। तात्पर्य यह कि जीव ब्रह्म का ही अंश है, अतः उसे संसार से हटाकर ब्रह्म में ही लगा देना चाहिए।

४८—शब्दार्थ—तूरी—घोड़ा। राति—रात्रि, मृत्यु की अचेतावस्था। पलाँणिगाँ—कस लिया है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मैंने मनरूपी घोड़े पर जीन कस ली है और संयम का कोड़ा हाथ में ले लिया है। मैं यह चाहता हूँ कि जीवनरूपी दिवस के समाप्त होने से पूर्ण परमात्मा के दर्शन कर लूँ अन्यथा इसके पश्चात् मृत्यु रूपी रात्रि आ जाएगी और मुझे अचेत बना देगी।

४९—भावार्थ—धनुष की भाँति शरीर को खींचकर पंच तत्वों के बाणों द्वारा मन रूपी मृग को मार सका तो अच्छा है अन्यथा सब साधना व्यर्थ है।

पंच तत्व से अभिप्राय पंच यमों से है—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर से नहीं। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अहिंसा और ब्रह्मचर्य आदि पाँच यमों से अभिप्राय है।

साखियाँ—५०, ५१, ५२, ५३, ५४। ये साखियाँ **'माया कौ अंग'** से उद्धृत की गई हैं। इस अंग में कबीर ने माया के विविध रूपों का वर्णन किया है और मनुष्य को इसके चक्कर में पड़ने से चेतावनी दी है। उन्होंने माया को पापिनी, सांसारिक आकर्षणों का फन्दा हाथ में लिए हुए वर्णित किया है। माया वेश्या के रूप में है, अमर है और उसके साथी आशा तृष्णा आदि भी अमर हैं। दम्भ और अहंकार माया के ही अन्य रूप हैं। गुरु की कृपा से ही मनुष्य माया के चक्कर से बच पाता है। वह सन्तों की दासी है, मनुष्य को उससे सदैव सतर्क और सावधान रहना चाहिए।

५०—शब्दार्थ—हटवाड़ा—बाजार, हाट। वेसा—वेश्या।

भावार्थ—यह संसार बाजार है। इसमें विषय-वासनाओं का स्वाद ही ठग है और माया रूपी वेश्या है। यहाँ आकर मनुष्य को राम के चरणों को अच्छी तरह पकड़ लेना चाहिए जिससे संसार हाट में ठगे न जा सकें।

५२—शब्दार्थ—त्रिविध—तीन गुण वाला। सत, रज, तम अथवा दैहिक, दैविक, भौतिक संतापों से युक्त।

भावार्थ—सत, रज, तम अथवा दैहिक, दैविक, भौतिक सन्तापों से युक्त त्रिगुणात्मक वृक्ष है। दुःख और सन्ताप ही उसकी शाखाएँ हैं। इस वृक्ष के आश्रय में शीतलता तो स्वप्न में भी नहीं। इसका फल रसहीन और शरीर को कष्ट देने वाला है।

५३—शब्दार्थ—तीतरवानी—तीतर के पंखों के समान, तीतरवर्णी बदली वर्षा अवश्य करती है, ऐसी कहावत है।

भावार्थ—कबीरदासजी कहते हैं कि माया की त्रिगुणात्मक बदली की छाया तीतर के पंखों के समान है। जो मनुष्य इस माया की बदली की छाया के बाहर रहते हैं वे तो संसार-सागर से पार हो जाते हैं, किन्तु जो शरीर रूपी मन्दिर के अन्दर रहे अर्थात् जिन्होंने माया के आकर्षणों में ही शरीर को लगा दिया वे भीग गए, माया ने उन पर पूरा आधिपत्य जमा लिया। इसमें रूपक और विरोधाभास अलंकार हैं।

५४—शब्दार्थ—बगुली—बगुला, मादा से अभिप्राय है। बिटालिया—समाप्त हो गया। सायर—सागर। पखेरू—पंक्षी, सांसारिक जीव। हंस—मुक्तात्मा। न बोवे चंच—चोंच नहीं डालता।

भावार्थ—माया रूपी बगुली ने आत्मा के मोक्ष जल को दूषित कर दिया अर्थात् उसका तेज समाप्त कर दिया तभी से संसार रूपी सागर कलंकित हो गया। इसमें अन्य पक्षी (साधारण मानव) तो पानी पी जाते हैं किन्तु हंस (मुमुक्षु) अपनी चोंच भी नहीं डालता।

अलंकार—सांगरूपक तथा रूपकातिशयोक्ति।

साखियाँ—५५, ५६, ५७ "**चांणक कौ अंग**" से ली गयी हैं। इस अंग में यह बताया गया है कि सांसारिक विकारों में ग्रस्त होने के कारण मनुष्य भगवान से विमुख हो जाता है और अनेक कष्ट भोगता है। वह रात-दिन पेट-पूजा के साधनों में लगा रहता है और अच्छे-बुरे कामों की चिन्ता नहीं करता जिससे उसका पतन होता है। कबीर मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि कलियुग के कुप्रभाव से बचने के लिए मनुष्य को वेद-शास्त्रों, धार्मिक सम्प्रदायों, बाहरी आडम्बरों का चक्कर छोड़ हरि के प्रति सच्चा प्रेम करना चाहिए।

५५—शब्दार्थ—विलंब्या—सहारा लिया। झल—अग्नि, संसारताप।

भावार्थ—मनुष्य मनुष्य का सहारा लेता है जिसका कोई फल नहीं निकलता। वह उस अलख ब्रह्म को नहीं देख पाता जिससे शान्ति-लाभ सम्भव है। बिना प्रभु के दर्शनों के यह ज्वाला शान्त नहीं हो सकती चाहे जितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय।

५६—शब्दार्थ—साषित—शाक्त। जेवड़ा—रस्सी। कठठाई—कड़ी होती है।

भावार्थ—शक्ति सम्प्रदाय का मनुष्य सन की रस्सी के समान है। जसे सन की रस्सी भीगने पर और भी अधिक कठोर हो जाती है वैसे ही शाक्त मनुष्य सांसारिक वासनाओं में जितना ही अधिक पड़ता है उतना ही अधिक उसमें लिप्त होता जाता है, वह प्रभु के राम नाम के दोनों अक्षरों तथा गुरु के विमुख रहने के कारण बँधकर सीधा यमपुर में चला जाता है।

५७—शब्दार्थ—बलि—बलि पशु। कांसि—कांस, सुई की नोक के समान वाली एक घास विशेष। कड़वां—एक घातक घास। दाझण—जलना या जलाना।

भावार्थ—यह संसार मेरी-तेरी की माया रूपी रस्सी में बलि के बकरे के समान बँधा हुआ पड़ा है। स्त्री, पुत्र, पिता आदि कटीली कांस और घातक कडवां के समान हैं जो उसे दग्ध करते हैं और आवागमन के चक्कर में डाले रहते हैं।

साखियाँ—५८, ५९ **"करणीं बिना कथणी को अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में वाणी और कर्म के समन्वय पर जोर दिया गया है। कबीर मनुष्य को समझाते हैं कि यदि मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह जो कुछ कहे उस पर मनोयोगपूर्वक स्वयं भी आचरण करे।

५८—शब्दार्थ—कथणी—कथन, ज्ञानोपदेश से अभिप्राय। कालबूत—कलाबत्तू, मेहराब के कँगूरे बनाने के लिए एक कच्चा आधार जिसे कंगूरा बन जाने पर हटा देते हैं। कच्ची मिट्टी का बना होने के कारण यह बड़ा नाजुक होता है, और छूते ही टूट जाता है। यहाँ कबीर ने 'देखत ही डहि जाय' द्वारा इसी नाजुकपन की बात कही है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि जिस मनुष्य ने केवल उपदेश ही बघारा और उन पर स्वयं कुछ भी आचरण न किया वह मनुष्य ज्ञानियों के बीच सत्य की कसौटी पर टिक नहीं सकता। जैसे कालबूत का किला देखने मात्र से ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मौखिक उपदेश भी टिकाऊ नहीं होते, वे प्रभावशाली नहीं होते।

अलंकार—उदाहरण।

५९—शब्दार्थ—नेड़ा—नजदीक। निहाल—प्रसन्न या आनन्दित।

भावार्थ--मुख से जैसी बात निकले, यदि उसके समान वैसा ही आचरण भी किया जाय तो परमब्रह्म सदैव समीप रहे और पल भर में प्रसन्न कर दें।

साखियाँ--६०, ६१ "**सांच कौ अंग**" से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने यह बताया है कि सत्य वास्तव में क्या है? संसार विषय-वासनाओं में पड़ कर जीवन की सत्यता को भूलकर झूठी वस्तुओं को ही सत्य मान बैठता है। संसार में धर्म के नाम पर मिथ्याचरण आडम्बर होता है। मिथ्याचरण छोड़ सत्याचरण के द्वारा ही मुक्ति और ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।

६०--शब्दार्थ--चमंकिया--चमत्कृत हुआ। पयाना--प्रयाण। काइथि--कायस्थ, चित्रगुप्त से अभिप्राय है। दरिगह--दरबार।

भावार्थ--कबीर कहते हैं कि जब ईश्वर के दरबार में चित्रगुप्त (ईश्वर के लेखा-नियन्त्रक) ने मेरे कर्मों का हिसाब निकाला तो वह पूर्ण निकला। मेरी आत्मा इससे प्रसन्न हो गयी और इसने दूर देश के लिए प्रयाण किया। अर्थात् कबीर अपने सतकर्मों के कारण ही जीवनमुक्त हो गया।

६१--शब्दाथ--लार--लाउसा।

भावार्थ--कबीर कहते हैं कि जिन मनुष्यों ने यह जान लिया है कि सृष्टि में ब्रह्म ही सब कुछ है (तत्व रूप है) वे संसार की झूठी लालसा क्यों करेंगे। अर्थात् मोह में पड़कर वे इस मिथ्या संसार के अनुकूल आचरण नहीं करेंगे।

साखियाँ--६२, ६३, "**भ्रम बिधौंसण कौ अंग**" से ली गयी हैं। कबीर ने इस अंग में कुछ सांसारिक भ्रमों का जैसे मूर्त्तिपूजा, तीर्थाटन, व्रत आदि धर्म के बाहरी आडम्बरों का खण्डन किया है।

६२--शब्दार्थ--थोथरा--निस्सार। सूबै--सुआ, तोता।

भावार्थ--कबीर कहते हैं कि जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि में विश्वास करना निरर्थक है। इनके ऊपर आश्रित रहने वाला व्यक्ति अन्त में संसार से वैसे ही निराश हो चला जाता है जैसे तोता--जो सेमर के फूल की सेवा करता है, इस आशा से कि उसे अच्छा पदार्थ खाने को मिलेगा। चोंच चलाता है तो वह खोखला निकलता है और तोता बेचारा निराश हो जाता है।

६३--शब्दार्थ--दसवाँ द्वार--ब्रह्म रन्ध्र। ज्योति पिछाँणि--हठ योगी साधक यह मानते हैं कि ब्रह्मद्वार के भीतर परम पुरुष की ज्योति प्रकाशित होती रहती है। इसे निरंजन ज्योति भी कहा जाता है। देखिए परिशिष्ट (क) में निरंजन शब्द। देहुरा--मन्दिर।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य को इधर-उधर तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। उसका मन ही मथुरा है, हृदय द्वारिका है और शरीर काशी है। दसवाँ द्वार ही देवालय (ब्रह्मरन्ध्र) है जिसमें प्रकाशित ईश्वरीय ज्योति से साक्षात्कार करना चाहिए।

अलंकार—रूपक और अक्रम है।

साखियाँ—६४, ६५, ६६ "**मेष कौ अंग**" से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने उन लोगों का खण्डन किया है जो वेश तो साधु का बनाए रहते हैं किन्तु मन में अनेक विकार भरे रहते हैं। कबीर के विचार से माला और उसका जाप, केश का मुड़ाना, तिलक लगाना आदि व्यर्थ के आडम्बर हैं। मन अशुद्ध है तो इनसे काम नहीं चलता, अतः इन्हें छोड़कर सच्चे हृदय से प्रभु की भक्ति करने में ही कल्याण है।

६४—शब्दार्थ—मैवासी—डाकू।

भावार्थ—मनरूपी डाकू को मूड़ना (मारना) चाहिए, बालों को क्यों मूड़ते हो, बालों ने तो कुछ भी नहीं किया, जो कुछ भी पाप कर्म किये हैं वे मन ने किये हैं।

६५—शब्दार्थ—पष—पक्ष।

भावार्थ—पक्षपात की भावना लेकर मिथ्या कुल की लालसा में सारा संसार डूब गया। बाहरी वेश-भूषा के आडम्बर ने अलख प्रभु को विस्मृत कर दिया और नरक की काली नदी में डूब गये अथवा काल-प्रवाह में नष्ट हो गये।

६६—शब्दार्थ—नवसत—सोलह। पटम—श्रृंगार।

भावार्थ—सोलह श्रृंगार किये हुए स्त्री ने अपना तन और मन सभी सजा रक्खा है लेकिन यदि वह प्रीतम के मन को अच्छी नहीं लगती तो उसकी यह साज-सज्जा व्यर्थ है।

साखियाँ—६७, ६८, ६९ "**कुसंगति कौ अंग**" से ली गई हैं। इसमें कबीर ने कुसंगति के दुर्गुणों का विस्तार से वर्णन किया है।

६७—शब्दार्थ—भोमि—पृथ्वी। विनंठा—नष्ट। माँनवी—मानव, जीवात्मा।

भावार्थ—जिस प्रकार वर्षा की निर्मल बूंद (ब्रह्म तत्व) आकाश से पृथ्वी पर गिरकर विकृत (मायाग्रस्त जीव) हो जाती है उसी प्रकार मनुष्य भी सत्संग के प्रभाव में समूल नष्ट हो भट्टी की राख के सदृश निरर्थक हो जाता है।

६८—शब्दार्थ—मूरषि—मूरख। भवंग—सर्प। तिहूँ भाइ—तीन रूप।

भावार्थ—मूर्ख का साथ कभी मत करो। मूर्ख लोहे के समान है जो जल में

तैर नहीं पाता, डूब जाता है। यह संगति का ही प्रभाव है कि एक स्वाँति बूंद विभिन्न संगतियों में पड़कर विभिन्न रूप धारण करती है—केले में गिरकर कपूर, सीप में पड़कर मोती और सर्प के मुख में पड़कर विष बन जाती है।

६९—शब्दार्थ—मेर—अहं (मेरा)। नींसाणी—चिह्न।

भावार्थ—अहं ही मृत्यु का चिह्न है और कुसंगति मृत्यु ही है। अस्तु हे प्राणी! तू नाद-ब्रह्म को समझने का प्रयत्न कर अथवा अपनी वाणी से प्रभु-भजन कर।

साखियाँ—७०, ७१ **'संगति कौ अंग'** से उद्धृत की गई हैं। इस अंग में कबीर ने यह बतलाया है कि जिसकी जैसी संगति होगी उस पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा।

७०—भावार्थ—जैसे पत्थर को टांकी लगाकर तोला नहीं जाता, हड्डी में छेद करके परीक्षण नहीं किया जा सकता। वैसे ही जो मनुष्य माया में अनुरक्त है, उसे प्रेमपात्र बनाया नहीं जा सकता।

७१—शब्दार्थ—ओड़ि—अन्त तक। षोडि—बुराई, दोष।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रेम उससे करो जो अन्त तक निर्वाह कर सके। विविध प्रकार की स्त्रियों से अनुराग मत करो क्योंकि इन्हें तो देखते ही पाप लग जाता है।

साखियाँ—७२, ७३ **"असाध कौ अंग"** से ली गई हैं।

इस अंग में कबीर ने यह बताया है कि साधक को किसी का उज्ज्वल वेश देखकर ही उस पर विश्वास न कर लेना चाहिए।

७२—शब्दार्थ—धीजिए—विश्वास कर बैठिए। बग—बगुला। माँडै—मछली। धौरे—पास।

भावार्थ—किसी की उज्ज्वल वेशभूषा देखकर उसके पवित्रमना होने का विश्वास मत कर बैठिए। सम्भव है कि वह कोई बगुला भक्त हो। जिस प्रकार मछली को समीप आया जानकर बगुला उसको दबोच कर समाप्त कर देता है उसी प्रकार वह तुमको सम्पर्क में लाकर तुम्हारे ज्ञान और विवेक को भी समाप्त कर देगा।

७३—शब्दार्थ—थाह—पार पाने योग्य, उथला पानी। ऊडै—गहरा पानी।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि जितने भी मधुर बोलने वाले हैं उन सबको साधु मत समझो। ये पहले तो थाह वाला उथला जल दिखाते हैं फिर गहरे पानी में डुबो देते हैं अर्थात् मृदु भाषी भयंकर विश्वासघाती होते हैं।

साखियाँ—७४, ७५, ७६, **"साध कौ अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने सत्संगत की महिमा का वर्णन किया है। वे संसार की विषय-वासनाओं से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय सत्संग बताते हैं।

७४—शब्दार्थ—बांवला—छोटा।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि साधु की संगत कभी निष्फल नहीं होती। चन्दन का पेड़ यदि छोटा भी होगा तब भी उसे कोई नीम कहकर नहीं पुकारेगा।

७५—भावार्थ—कबीर कहते हैं कि इस भवसागर में कितनी लहरें (जीवात्माएँ) उठती और गिरती हैं। न जाने कहाँ से पैदा होती हैं और न जाने कहाँ चली जाती हैं लेकिन उस ईश्वर मन की बलिहारी है जो इन लहरों को उलट कर अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है अर्थात् प्रभु-भक्ति के माध्यम से ब्रह्म में लीन हो जाता है।

७६—भावार्थ—हे शाक्त! भक्ति हजारी (बहुमूल्य) कपड़ा है जिसमें मैल नहीं लग पाता है। वह उस काली कमली के समान है जिसे चाहे जहाँ बिछा लें अर्थात् भक्ति-साधना शाक्त-साधना से उत्तम है।

साखियाँ—७७, ७८, ७९ **"साध साखीभूत कौ अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने सच्चे साधु के लक्षण समझाए हैं।

७७—भावार्थ—कबीर कहते हैं कि ईश्वर का प्रेमी दूर से ही दिखाई दे जाता है। उसका शरीर क्षीण और मन उन्मन (विषयों से विरक्त) होता है और संसार से विरक्त हुआ घूमा करता है।

साखी ७८—सरल है।

७९—भावार्थ—कामिनी से विरक्त होना एवं प्रभु के नाम में अनुरक्त होना ही श्रेयष्कर है। इसके साक्षी गुरु गोरखनाथ हैं जिन्होंने कलियुग में भी इस आचरण से अमरता प्राप्त कर ली।

साखियाँ—८०, ८१, ८२ **"साध महिमा कौ अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने साधुओं की महिमा का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः जहाँ साधु होते हैं, वहाँ स्वयं प्रभु निवास करते हैं।

८०—शब्दार्थ—कुटकी—छोटा टुकड़ा। अबराउं—अमराई, बगीचा, जंगल। साषत—शाक्त।

८१—शब्दार्थ—सूबस—सुरीति से। ठांयें ठांइ—स्थान-स्थान पर।

भावार्थ—पुर और नगर बहुत अच्छी तरह बसे हुए हों, और स्थान-स्थान

पर आनन्द हो रहा हो किन्तु यदि वे राम के प्रेमियों से शून्य हैं तो वे उजाड़ स्थान के समान हैं।

साखियाँ--८३, ८४ "**मधि कौ अंग**" से ली गयी हैं--इस अंग में कबीर ने मध्यममार्ग को अपनाने की बात कही है--क्योंकि अति का सर्वथा परित्याग करना शास्त्रों में कहा गया है। वास्तव में मध्यम मार्ग की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का ग्रहण ही मनुष्य के लिए सुखप्रद और शान्तिदायक है।

८३--भावार्थ--कबीर कहते हैं कि जो मनुष्य इस संसार में मध्यम मार्ग से चलता है उसे पार होने में देर नहीं लगती परन्तु जो प्राणी संसार में दोनों अंगों अर्थात् अतिरेकों से चिपटता है, डूब जाता है।

८४--भावार्थ--कबीर कहते हैं कि द्विविधा को दूर कर दो और एक अंग होकर लगो अर्थात् मध्यवर्ती के साथ लग जाओ। द्विविधा में संताप है। उसके दोनों सिर अग्नि कहलाते हैं। एक अंग होकर लगने में शीतलता है, अतः मध्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

साखियाँ ८५--८६ "**सारग्राही कौ अंग**" से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने यह कहा है कि मनुष्य को नीर-क्षीर न्याय के अनुसार सारतत्व को ग्रहण करना चाहिए और असारतत्व को छोड़ देना चाहिए। सारग्रहण के द्वारा ही मनुष्य वास्तविक सुख, आनन्द और शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

८५--शब्दार्थ--षीर--क्षीर, दूध। तत--सार तत्व, प्रभु।

भावार्थ--कबीर कहते हैं कि इस संसार में दूध के रूप में ईश्वर का नाम है। संसार के अन्य व्यवहार और साधन पानी के समान हैं। ये दोनों एक साथ मिले हुए हैं। परमतत्व को जानने वाला केवल भक्ति रूपी हंस ही भक्ति रूपी दूध को पीता है और जल रूपी अन्य साधनों को छोड़ देता है।

८६--भावार्थ--कबीर कहते हैं कि दूसरों के अवगुणों को ग्रहण मत करो केवल गुणों को ग्रहण कर लो। जिस प्रकार भौंरा प्रत्येक पुष्प के भीतर से रस को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में बसने वाले सद्गुणों को ब्रह्म-स्वरूप के रूप में पहचान ले।

साखियाँ--८७, ८८ '**विचार कौ अंग**' से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने अनेक भाँति के विचारों को व्यक्त किया है।

८७--शब्दार्थ--आषिर--अक्षर। जू जू--जो जो, विभिन्न। वाचवंत--पाठ करते हैं। लवणि--नमक, सौन्दर्य। अमी--अमृत। रसाइण--रसमय। हुत--होती हैं।

वही अक्षर हैं, वही भाषा, लेकिन विभिन्न मनुष्यों के पढ़ने में उसमें भेद हो जाता है—कोई उन्हें कटु बना देते हैं और कोई उन्हें रसमय बना देते हैं। भाव यह है कि जिस वाणी का प्रयोग जन-सामान्य नित्य करता है, कोई विरला मनुष्य उसमें ऐसा सौन्दर्य और रस मिला देता है कि वह अमृत के समान जीवनदायिनी बन जाती है।

८८—शब्दार्थ—मोत्यां—मोतियों की। तागि—धागे में। झंटा—झंझट। घणां—बहुत।

कबीर कहते हैं कि ईश्वर मोतियों की उस माला के समान है, जो कच्चे धागे में पोही गयी है। यदि इस माला को अधिक प्रयत्नों के साथ रखने की सोचोगे तो इसमें उलझ कर अनेक गुत्थी बन जायेंगी और सम्भव है कि टूट जाय। अभिप्राय यह है कि प्रभु, भक्ति से प्राप्य है, तर्क से अप्राप्य है।

साखियाँ—८९, ९० '**उपदेश कौ अंग**' से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने अनेक विषयों पर विचार प्रकट किए हैं और अन्त में यह बताया है कि साधक को सदैव सद् उपदेशों द्वारा इतना सावधान और सजग रहना चाहिए कि कोई भी विकार उसके मन में प्रवेश न कर सके।

८९—शब्दार्थ—च्यंता—चिन्ता। घणी—अधिक। दुहूँ कात्या—कैंची के दो फलक। हंनै—नष्ट करे।

भावार्थ—यदि गृहस्थी में रहते हैं, तो अनेक चिन्ताएँ सवार रहती हैं और वैरागी बनते हैं तो भीख माँगनी पड़ती है। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में बेचारा जीव उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे कैंची के दोनों फलकों के बीच कोई वस्त्रादि। कबीर कहते हैं कि इन दोनों प्रकार की चिन्ताओं को संत पुरुष की शिक्षा ही नष्ट कर सकती है।

९०—निबहै ओरि—अन्त तक सुरक्षित रख सकें। पैका-पैका—पैसा-पैसा। जुड़िसी—जुड़ जाता है।

यदि कोई वस्तु पेड़ से जैसी उत्पन्न होती है वैसी ही अन्त तक रहे तो फिर उसके लिए जो कुछ कहा जाय उतना ही थोड़ा है। प्रारम्भ से थोड़ा-थोड़ा इकट्ठा करने पर लाखों और करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति जुड़ जाती है। अभिप्राय यह है कि यदि आत्मा जिस शुद्ध और स्वच्छ रूप को लेकर ब्रह्म से पृथक हुई थी उसी को अन्त तक रखती तो कितना अच्छा होता। थोड़ा-थोड़ा स्मरण भी यदि वह ईश्वर का करता रहता तो न जाने कितनी सफलता प्राप्त कर लेता।

साखियाँ—९१, ९२, ९८ '**बेसास (विश्वास) कौ अंग**' से ली गयी हैं। निर्गुण

सन्तों की साधना में प्रभु पर अडिग विश्वास बहुत महत्ता रखता है। इस अंग में कबीर ने इसी विश्वास का वर्णन किया है।

९१—बोहड़ा—नीचा खेत। बाँही—बोदे।

भावार्थ—राम नाम का बोहड़ा बनाले और उसमें सब संतुष्ट होकर बीज बोदे। अन्त समय में यदि सूखा भी पड़ गया तो भी वह कभी निष्फल न जावेगा; अर्थात् प्रभु-भक्ति का फल साधन की कमी हो जाने पर भी तुझे अवश्य प्राप्त होगा।

अलंकार—सांगरूपक।

९२—शब्दार्थ—च्यंतामणि—चिन्तामणि। आंणि—प्रदत्त करदे। बांणि—प्रकृति, स्वभाव।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू चिंतामणि के लिए अन्यत्र क्यों भटकता है ? वह ब्रह्म-रूपी चिन्तामणि तो तेरे चित्त में ही है, उसमें ही तू सारी वृत्तियों को लगा दे। जब ईश्वर प्रत्येक जीव की उसके द्वारा बिना चिन्ता किए हुए ही चिन्ता रखने के स्वभाव वाला है, तो फिर तुझको भी उसका चिन्तन करना चाहिए।

९३—शब्दार्थ—पांडल—गुलाब का फूल। पंजर—शरीर।

भावार्थ—मनुष्य का शरीर गुलाब-पुष्प सदृश है जिसमें मन भ्रमर है और भाव, विचार ही अनुपम सुगन्ध है। राम-नाम रूपी अमृत से सींचा गया है और विश्वास रूपी फल इस पर लगा हुआ है।

अलंकार—सांगरूपक।

साखियाँ—९४, ९०, ९६—**'विर्कताई कौ अंग'** से ली गई हैं। इस अंग में कबीर ने विरक्ति का वर्णन किया है। विरक्ति ब्रह्म के लिए अनिवार्य है। मनुष्य को स्वामित्व की भावना परित्याग कर सेवक-भाव से प्रभु के चरणों में तल्लीन होना चाहिए।

साखी ९४—सरल है।

९५—शब्दार्थ—दावैं—अधिकार। दाझण—जलन होता है। निरदावै बिना अधिकार के।

भावार्थ—अधिकार की इच्छा मनुष्य को जलाती रहती है और जो अधिकार-भावना को दूर कर देते हैं वे इन्द्र को भी अपने सामने तुच्छ समझते हैं।

९६—शब्दार्थ—हंढिय—घूम लिया। आंदिल कंधि चढ़ाइ—शरीर का भार ढोते हुए। ठोंकि बजाय—भलीभाँति देखना।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मैंने शरीर-भार को ढोते हुए सारा संसार खोज डाला लेकिन ईश्वर के अतिरिक्त मनुष्य का और कोई भी हितैषी नहीं मिला—कहने का तात्पर्य यह है कि प्रभु के अतिरिक्त अपना और कोई नहीं है।

साखियाँ—९७, ९८, ९९ **"सम्रथाई कौ अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में यह बताया गया है कि प्रभु सर्वसमर्थ है। मनुष्य के वश में कोई बात नहीं है। केवल दम्भ के कारण ही वह कर्त्ता होने का दावा किया करता है।

ये साखियाँ सरल हैं।

साखियाँ—१००, १०१ **'कुसबद कौ अंग'** से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर कुशब्दों की निन्दा करते हैं क्योंकि अपशब्द साधुओं के लिए वर्जित हैं।

१००—शब्दार्थ—अणी—नोक। सुहेली—सहने योग्य। सेल—बरछी।

भावार्थ—बरछी की नोक यदि शरीर में भिदती है तो वह अपेक्षाकृत सहनीय है, क्योंकि उसके भिदने पर मनुष्य साँस तो लेता रहता है किन्तु कुशब्द की चोट अत्यन्त ही घातक होती है। जो शब्द की चोट को सहन कर सके उस गुरु का तो मैं दास बनने को तैयार हूँ।

साखी १०१—सरल है।

साखियाँ १०२, १०३, **"सबद कौ अंग"** से ली गयी हैं। इस अंग में कबीर ने शब्द अथवा अनहदनाद का परिचय दिया है। उन्होंने कहा है कि शब्द समस्त संसार में व्याप्त है। जिसके हृदय में यह झंकृत होने लगता है, वह संसार से उदासीन हो जाता है और विकारहीन और निर्मल बन जाता है। इस शब्द का बोध कराने वाला सद्गुरु ही होता है।

१०२—सिकलीगर—शान रखने वाला, कारीगर। मसकला—पत्थर का गोल पहिया। द्रपन—दर्पण, निर्मल।

भावार्थ—सद्गुरु को सिकलीगर की भाँति होना चाहिए जो अपने शब्द-रूपी शान रखने वाले यंत्र पर पत्थर के पहिए को घूमा-घुमाकर वस्तुओं (साधक के शरीर को) दर्पण की भाँति चमका देता है।

१०३—साहणहार—सहने वाला।

भावार्थ—ज्यों-ज्यों मैं भगवान के गुणों का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों भगवान् की प्रेम-भक्ति का तीर मेरे हृदय में पैठता चला जाता है। फिर भी मैं उस बाण के लगने से विचलित नहीं होता क्योंकि मेरा प्रभु मुझे सहन शक्ति देने वाला है।

साखियाँ—१०४, १०५, १०६ "जीवन मृतक कौ अंग" से ली गयी हैं। इनमें यह बताया गया है कि जो व्यक्ति सांसारिक विषय-वासनाओं के बन्धनों से मुक्त है, वह जीवित है और जो आबद्ध है, वह मृतक है। जो मनुष्य प्रभु-भक्ति की कसौटी पर खरा उतर आता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है और जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

१०४—शब्दार्थ—मड़ा—मृतक।

भावार्थ—यदि मैं इस सांसारिक घरबार को जलाता हूँ तो मेरा-पारमार्थिक घर बसता है और यदि इसे रखता हूँ तो वह हाथ से जाता है। कबीर कहते हैं कि मैंने यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य देखा है कि मरा हुआ व्यक्ति (जिसका अहं मर चुका है) काल को खा रहा है अर्थात् जीवनमुक्त मनुष्य काल की सीमा और शक्ति को समाप्त कर अमर हो जाता है।

१०५—शब्दार्थ—मुवा—समाप्त हो गया, मर गया।

भावार्थ—मरते-मरते तो सारा संसार मरता चला जा रहा है परन्तु सुअवसर पर कोई भी नहीं मर सका। कबीर कहते हैं कि यदि मरना है तो ऐसे मरो कि जिससे फिर न मरना पड़े अर्थात् जीवनमुक्त होकर आवागमन से मुक्त हो जाओ।

१०६—भावार्थ—साधक को चाहिए कि वह पाखण्ड और अभिमान को छोड़ कर मार्ग में पड़े हुए रोड़े (जिसे सबके पैर की ठोकरें खानी पड़ती हैं) के समान बन जाय। जब उसकी ऐसी स्थिति हो जायगी तो उसे प्रभु की प्राप्ति हो जायगी।

साखियाँ १०७, १०८ "गुरु सिष हेरा कौ अंग" से ली गयी हैं। इस अंग में यह बताया गया है कि सच्चा गुरु शिष्य को बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। सच्चा गुरु ही शिष्य को भवसागर से पार उतार सकता है। वह इन्द्रियजित होता है और सच्चे मन से प्रभु से प्रेम करता है।

१०७—भावार्थ—संसार में सम्पत्ति, स्त्री और मित्र तथा सम्बन्धियों को स्नेह करने वाले अनेक मनुष्य मिल जाते हैं, लेकिन ईश्वर से प्रेम करने वाले बहुत कम हैं। यद्यपि उस ईश्वर के सम्पूर्ण मनुष्य प्रेमी हैं, किन्तु संसार के माया-मोह में लिप्त होकर वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और ईश्वर को विस्मृत कर देते हैं।

विशेष—'तीन सनेही'—के अनेक अर्थ लिए जा सकते हैं। जैसे—

१—(अ) जागृत, (ब) स्वप्न, (स) सुषुप्ति, (द) तुरीय—यही अन्तिम काम्य है।

२—(अ) धर्म, (ब) अर्थ, (स) काम, (द) मोक्ष—यही काम्य है।

३—(अ) लोकैषणा, (ब) वित्तैषणा, (स) पुत्रैषणा, (द) ब्रह्मैषणा यही काम्य है।

इनमें से प्रथम तीन किन्हीं भी अर्थों में स्वीकार किये जा सकते हैं परन्तु अन्तिम 'चतुर्थ' का लक्ष्य सर्वत्र एक ही है, अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति। इसकी आकांक्षा करने वाले विरले ही मिलते हैं।

१०८—शब्दार्थ—मोहवन्ती—मोहयुक्त। कूड़े—बुरे। आखै—कहती है। वेध्या—वेधा हुआ। साईं—प्रभु। सैण—कटाक्ष।

भावार्थ—इस संसार में सर्वत्र मोहमयी माया का साम्राज्य है जो कुवचन कहती है, मिथ्याचार कराती है, किन्तु प्रभु की प्रेम-दृष्टि के कटाक्ष का घायल, उससे जिसका हृदय विंध गया है, ऐसा कोई नहीं मिलता।

साखियाँ १०९, ११० "**हेत प्रीति सनेह कौ अंग**" से ली गई हैं। इस अंग में प्रेम की महत्ता का वर्णन किया गया है। ये साखियाँ सरल हैं।

साखियाँ १११, ११२, ११३, ११४ "**सूरा तन कौ अंग**" से ली गयी हैं। कबीर ने इनमें शूरवीरों के लक्षण बताये हैं। शूरवीरों को श्रेणीबद्ध तो नहीं किया फिर भी समस्त साखियों के बाद एक कोटिबद्धता का आभास हो अवश्य जाता है।

१११—शब्दार्थ—पूणें—कोने में, एकान्त में। अबूझ—अज्ञानी। मैदान—युद्धक्षेत्र, संसार। झुझ—युद्ध।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हे मूर्ख जीवात्मा! एकान्त में तपस्या करने से तेरी मुक्ति नहीं होगी! मुक्ति के लिए संसार के रणक्षेत्र में इन्द्रियों से युद्ध करना आवश्यक है। भाव यह कि इन्द्रियों को जीत लेने वाली आत्मा ही मुक्तात्मा है।

११२—शब्दार्थ—आरणि—आरण्य, वन। पैसिकरि—घुसकर।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि सच्चा योद्धा वही है, जो इस संसार रूपी जंगल में प्रवेश करने पर भी अन्य साथियों के पीछे-पीछे चले अर्थात् अन्य मनुष्यों की तुलना में इस संसार की माया से कम प्रभावित रहे। ऐसे मनुष्य ईश्वर के सच्चे भक्त हैं और उसकी कृपा के सर्वदा पात्र रहते हैं।

११३—भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रेम के घोड़े पर जब चेतन आत्मा सवार होकर बैठ जाती है तो वह ज्ञान रूपी खड्ग हाथ में लेकर मृत्यु के सिर पर खूब चोटें मारती है।

११४—भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु सबका ध्यान रखते हैं क्योंकि समस्त जीवों का स्मरण कोई नहीं करता। जब तक जीव को शरीर का मोह है तब तक वह भक्त नहीं हो सकता है।

साखियाँ ११५, ११६, ११७ "**काल कौ अंग**" से ली गयी हैं। इनमें कबीर ने

समय की अल्पता, मृत्यु की आवश्यकता का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य को इसे ध्यान में रखकर ईश्वर-भक्ति में लीन रहना चाहिए।

११५—भावार्थ—हे जीव ! तू संसार के झूठे सुखों को, जो कि अस्थायी हैं, सुख मानकर मन में हर्षित होता है। लेकिन यह सम्पूर्ण संसार मृत्यु का चबैना (चबा के खाने की वस्तु) है, कुछ को तो अपने मुख में डालकर चबा रहा है और कुछ इसके चबाने के लिए इसकी गोदी (झोली) में रखे हुए हैं अर्थात् कुछ मर रहे और कुछ मरने वाले हैं।

११६—शब्दार्थ—माड़ियाँ—अलंकृत हो रहा था। मसांणां—श्मशान में। दीठ—दिखाई देता है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि यह जग अत्यन्त क्षणिक है। क्षणभर में यहाँ मधुर अनुभूति होती है तो क्षणभर में ही कटु। कल तक जो व्यक्ति अलंकृत हो रहा था वही आज श्मशान में जल रहा है।

११७—शब्दार्थ—अस्थिर—चंचल। निधड़क—निर्भीक होकर, भगवान से उदासीन होकर।

भावार्थ—यह नश्वर शरीर और चंचल मन है, फिर मनुष्य अपने कार्यों को गहरी नींद देता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य निडर होकर निश्चिन्त हो घूमता है, मृत्यु उसकी मूर्खता पर हँसती है कि इस अल्प-समय में यह प्रभु-भजन क्यों नहीं करता।

साखियाँ ११८, ११९ **"सजिवनि कौ अंग" से ली गई हैं।**

११८—शब्दार्थ—जरा—वृद्धावस्था। विधाता—प्रभु।

भावार्थ—जहाँ मरण का भय नहीं और न किसी की मृत्यु सुनी है, हे कबीर ! तू उस देश को चल। यदि वहाँ कोई आधि-व्याधि हो भी गई तो स्वयं प्रभु वहाँ वैद्य हैं।

११९—शब्दार्थ—दिसावरा—विदेश। विरषा—वृक्ष।

भावार्थ—ईश्वर रूपी श्रेष्ठ वृक्ष है, जिस पर दया रूपी फल लगता है, जो प्रत्येक प्राणी के लिए उपकारी होता है। इस वृक्ष से जीवात्मा रूपी पक्षी उड़कर अनेक योनियों में विचरण करते फिरते हैं और यह वृक्ष अनवरत फल देता रहता है, अर्थात् आत्मा अपने सबसे सुन्दर आश्रय ब्रह्म को त्याग सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति अनुरक्त हो नाना प्रकार की योनियों में भटकती रहती है। मुक्ति का एक मात्र उपाय ईश्वर-भक्ति है।

साखियाँ १२०, १२१ **"अपारिष कौ अंग"** से ली गयी हैं।

भावार्थ—इस संसार में अनेक अनमोल रत्न बिखरे हुए हैं लेकिन उनको कुछ तो अपने अज्ञान के कारण और कुछ प्रमाद के कारण ग्रहण नहीं करते।

१२०—शब्दार्थ—बगा—बगुले ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि पाए हुए अमूल्य पदार्थ प्रभु को छोड़कर व्यर्थ के इस बोझ (माया) को अपना लिया । हंस परमात्मा को छोड़कर माया रूपी कपटी बगुले के संसर्ग को अपना लिया ।

१२१—शब्दार्थ—पैड़े—कदम-कदम पर ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि संसार के मार्ग में कदम-कदम पर प्रभु-भक्ति रूपी अमूल्य मोती बिखरे हुए हैं, किन्तु अज्ञानांध जीव निकला हुआ जा रहा है । प्रभु-प्रदत्त ज्ञान-ज्योति के अभाव में जीव संसार में उलझकर ही रह जाता है ।

साखियाँ १२२, १२३ '**पारिष कौ अंग**' से ली गई हैं । कबीर ने बताया है कि प्रभु की शक्ति रूपी सरोवर में अनेक मोती बिखरे हैं लेकिन उन्हें कुछ 'हंस' लोग ही प्राप्त करते हैं ।

१२२—शब्दार्थ—मंझन—मज्जन, स्नान ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि समुद्र की लहर ने किनारे पर लाकर मोतियों को बिखरा दिया । बगुला समुद्र में नहाने का आनन्द ही लेना जानते हैं । उन्होंने मोतियों को देखा तक नहीं, किन्तु हंस उन मोतियों को चुन-चुन कर खाने लगे ।

विशेष—हंस से तात्पर्य ईश्वर-भक्तों से है और बगुला से तात्पर्य संसार में लिप्त हुए मनुष्य से है ।

१२३—भावार्थ—ईश्वर रूपी हीरा को भक्त रूपी जौहरियों ने सजा-सजाकर हाट लगा रखी है लेकिन इस हीरे का ठीक मूल्य तभी लगेगा जब इसकी परख करने वाला सच्चा भक्त हो ।

साखियाँ १२४, १२५ "**कस्तूरियां मृग कौ अंग**" से ली गयी हैं ।

कबीर का कहना है कि ईश्वर को जो लोग कस्तूरी के मृग की भाँति अन्यत्र खोजते हैं, वे भूल करते हैं । उन्हें भ्रम है, ईश्वर तो हृदय में ही निवास करता है ।

१२४—भावार्थ—कैसी विडम्बना है कि मृग की नाभि में ही कस्तूरी का वास है किन्तु वह उसकी खोज में वन-वन भटकता है, ऐसे प्रभु का प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास है किन्तु कोई उसे देख नहीं पाता ।

१२५—शब्दार्थ—खालिक—प्रभु ।

भावार्थ—जिस भाँति नैनों के मध्य पुतलिका का वास है किन्तु हम बिना

दर्पण (गुरु) के नहीं देख सकते उसी भाँति प्रभु तो हृदय में ही स्थित है, मूर्ख लोग इस रहस्य को न जानकर अन्यत्र प्रभु की खोज में भटकते हैं।

साखियाँ १२६ से १३४ तक, "**काम नरी कौ अंग**" से ली गई हैं। इनमें कबीर ने बताया है कि नारी के सम्पर्क में आकर पुरुष की वृत्तियाँ किस प्रकार कामुक हो जाती हैं। अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य से हटकर वह कैसे पथ-भ्रष्ट हो जाता है। आध्यात्मिकता से दूर उसे परमार्थ का तो लेशमात्र भी ध्यान नहीं रहता। इसके मूल में कामुक नारी ही है। उनके दृष्टिकोण से नारी ही समस्त पापों का मूल है।

१२६—शब्दार्थ—मीनीं—मक्खी। पाणि—खाँड़, मधु, शहद।

भावार्थ—कामिनी (नारी) शहद की मक्खी की भाँति छेड़ने पर पुरुष को काट लेती है परन्तु जो लोग ईश्वर के चरणों में अनुरक्त हैं वे बचे रहते हैं यह उनके समीप नहीं जाती।

१२७—शब्दार्थ—राता—अनुरक्त। बिढ़ता—बढ़ा हुआ धन। भरसार है—सरस रहता है, फलता फूलता रहता है। समूला—जड़ सहित, अपने वंश के साथ।

भावार्थ—जो व्यक्ति दूसरे पुरुषों की स्त्रियों में अनुरक्त घूमता है और चोरी-चपाटी से बढ़े धन का उपभोग करता है वह चार दिन भले ही फलता-फूलता रहे, पर अन्त में उसे अपने वंश के साथ विनष्ट हो जाना पड़ता है।

१२८—शब्दार्थ—बंचै—बचना है। खातां—उपभोग के समय।

भावार्थ—दूसरों की सुन्दर स्त्रियों के रूपजन्य आकर्षक प्रभाव से कोई-कोई ही अपने आपको बचा कर रख पाता है। जो लिप्त हो जाते हैं उनके लिए भोग के समय तो वह खाँड़ की भाँति मधुर लगती है किन्तु अन्त में यही विष के समान घातक बन जाती है। अनेक शारीरिक और मानसिक रोगों से वह पुरुष पीड़ित होता है।

१२९—शब्दार्थ—राचणों—अनुरक्ति। लहसण—लहसुन। पूणें—कोने में। रषाइये—रखवाली कीजिए। दिवानि—दीवानगी।

भावार्थ—औरों की स्त्री के साथ अनुरक्ति रखना लहसुन के खाने की भाँति है। जैसे लहसुन खाने के बाद भले ही कोने में बैठकर कोई उसकी दुर्गन्ध को छिपाने का प्रयास करे पर छिपा नहीं सकता। ठीक वैसे ही यह अनुरक्ति भी छिपाई नहीं जा सकती।

१३०—शब्दार्थ—सकाम—कामवासना से युक्त। निहकाम—निष्काम होकर अर्थात् वासनाओं से रहित होकर।

भावार्थ—पुरुष और स्त्रियाँ सभी यदि अपने शरीर की वासनाओं में लिप्त रहेंगे तो वे नर्क के भागी होंगे। कबीर कहते हैं कि यदि पुरुष और स्त्रियाँ वासनाओं से निर्लिप्त होकर ईश्वर को भजें तो प्रभु को प्राप्त होते हैं।

साखी १३१—सरल है।

१३२—शब्दार्थ—मूरति—शरीर। भंग—नष्ट।

भावार्थ—हे मनुष्य ! तू शीघ्र ही अनेक प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थों का सुख और नारी में अनुरक्तिजन्य वासनात्मक तृप्ति को शीघ्र ही त्याग दे, अन्यथा शरीर के विनष्ट हो जाने पर तुझे पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

१३३—शब्दार्थ—नसावै—नष्ट करती है। मुकति—मुक्ति। जिन-ज्ञान—आत्म-ज्ञान। पैसि—बैठकर, प्रवेश कर।

भावार्थ—जिस पुरुष को नारी का संसर्ग उपलब्ध है उसकी तीन सुखानुभूतियाँ विनष्ट हो जाती हैं। नारी के पास बैठकर अर्थात् उसके संपर्क में आकर इन तीनों की प्राप्ति असम्भव है।

१३४—शब्दार्थ—कामियाँ—कामी पुरुषों ने। वादि—व्यर्थ बकवास करके।

भावार्थ—कामी पुरुषों ने इन्द्रिय-रसों का आस्वादन करके भक्ति को भ्रष्ट कर दिया अर्थात् वे भक्ति-मार्ग से विचलित हो गये। उन्होंने अपने हाथ से हीरा खो दिया और अपना जन्म व्यर्थ बकवास में बर्बाद कर दिया।

१३५ से १३८ तक साखियाँ '**सुन्दरि कौ अंग**' से ली गई हैं। इनमें कबीर ने आत्मा को सुन्दरी माना है और कहा है कि विषयानुरक्ता आत्मा रूपी सुन्दरी को परमात्मा रूपी पति कभी भी उचित सम्मान देकर अपने पास नहीं बुलाता। जो इनसे मुक्त हैं वे नित्य-प्रति परमात्मा के पास ही रहकर उसके सहजीवन-यापन का परमानन्द प्राप्त करती हैं।

१३५—शब्दार्थ—सुजांण—चतुर। परांण—प्राण।

भावार्थ—किसी साधक की आत्मा रूपी सुन्दरी ने परमात्मा रूपी पति से यों निवेदन किया कि हे कंत ! तुम या तो शीघ्र ही आकर मिलो अन्यथा मैं अपने प्राणों को त्याग दूँगी।

१३६—शब्दार्थ—जाणि—जान बूझकर। विभचार—व्यभिचार।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि यदि कोई स्त्री जान-बूझकर अनेकानेक विषयों में अपने आपको लिप्त रखकर व्यभिचार करती है, तो उसको उसका पति परमेश्वर कभी भी प्रेमपूर्वक सम्मानित नहीं करता।

१३७—शब्दार्थ—नान्हा—महीन। ब्रह्म—ब्रह्मरंध्र।

भावार्थ—कबीर साधक से कहते हैं कि तू इस मन को मैदा की भाँति तप और साधना की चकिया में पीस-पीसकर अत्यन्त महीन और चिकना कर तभी ब्रह्मरंध्र में तुझे पारमात्म्य-ज्योति के दर्शन हो सकेंगे और तभी आत्मा रूपी सुन्दरी प्रसन्न होगी।

१३८—शब्दार्थ—दरिया—शून्य स्थल। मेल्या—बिछाया है। मचाइ—गलीचा।

भावार्थ—शून्य-स्थल के उस पार परमात्मा का हिंडोलना पड़ा हुआ है जिस पर स्वयं उन्होंने उपने हाथों से गलीचा बिछा रखा है, वही स्त्री सुन्दर लक्षणों से युक्त कही जा सकती है जो नित्य प्रति उसके साथ झूलने के लिए जा सकती है अर्थात् वही आत्मा पवित्र कही जा सकती है जो परमात्मा के इस आनन्द रूपी हिंडोले पर सोई हुई कुण्डलिनी को जगाकर नित्य प्रति झूलने के लिए जाती है।

साखियाँ—१३९, १४०, १४१ "**निगुणां कौ अंग**" से ली गई हैं। ईश्वर के द्वारा प्रदत्त इन सभी अमूल्य पदार्थों को यों तो सभी पाने की चेष्टा करते हैं लेकिन सद्-गुरुओं के शिष्य ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं, सभी नहीं।

१३९—शब्दार्थ—रूषड़ा—वृक्ष। बूठा—पड़ा।

भावार्थ—हरा वृक्ष ही पानी के स्नेह को समझ सकता है। सूखा काठ पानी के महत्त्व को कुछ नहीं समझ सकता, चाहे जितना पानी बरसे। भाव यह है कि सन्त ही प्रभु-भक्ति के महत्त्व को समझ सकता है। ठूंठ के समान नीरस दुष्ट व्यक्ति कभी जान ही नहीं सकता कि प्रभु की कृपा-दृष्टि कैसी होती है।

१४०—शब्दार्थ—डूँगर—टीला। सिषारां—चोटियों पर। मिवांणां—नीचे में।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रभु-अनुकम्पा के जल की वर्षा पर्वत, टीलों और ऊँची चोटियों (अहं से परिपूर्ण शुष्क, कठोर और दम्भयुक्त मनुष्यों) पर हुई, किन्तु वहाँ प्रभु-भक्ति का जल नहीं ठहरा। जल तो ऊँचे पर नहीं, निम्न स्थान में रुकता है।

भाव यह है कि प्रभु की भक्ति और कृपा के अधिकारी विनम्र-हृदय भक्त ही हैं।

१४१—शब्दार्थ—बंस—बांस। जाल्या—जला दिया।

भावार्थ—ऊँची जाति का होने के कारण बांस में अहम्मन्यता आ गई, और अपने से छोटे चन्दन के सद्गुण—सुन्दर, शीतल, सुगन्ध—को वह नहीं अपना सका इसलिए वह अपने परिवार—समूह सहित नष्ट हो गया।

साखियाँ १४२ से १४३ तक '**बेली कौ अंग**' से ली गयी हैं। इनमें कबीर ने काया को बेली मानकर बताया है कि यह और बेलों की भाँति नहीं अपितु यह जल से सींचने पर कुम्हिलाती है और उपयोग करने से बढ़ती है। इसे यदि त्यक्त कर दिया जाय तभी ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

१४२—शब्दार्थ—दौ—दावाग्नि । हरिया—हरियाली, पल्लवित ।

१४३—शब्दार्थ—डहडही—अधिकाधिक हरी ।

भावार्थ—कबीर का कहना है कि इस त्रिगुणात्मिका माया रूपी बेलि को यदि इन्द्रियों रूपी कुल्हाड़ी से काटा जाय अर्थात् इसका प्रयोग किया जाय तो यह और भी अधिक हरी-भरी होने लगती है, अतः इसका यही गुण अवर्णनीय है। साथ ही यह यदि ईश्वर की भक्ति रूपी जल से सींची जाय तो कुम्हलाने लगती है।

१४४—शब्दार्थ—कड़ई—कड़वी ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मायारूपी बेलि अत्यन्त कड़वी है। अतएव इस पर फल भी कड़वे ही लगते हैं। हे साधो ! तभी आप परमात्मा को यथार्थतः प्राप्त कर सकते हैं जब इस बेलि से पूर्णतः अपना सम्बन्ध विच्छेद करलें।

१४५—शब्दार्थ—सीध—सिद्ध । बाँसि—प्रसिद्धि की गन्ध । भी—अब भी ।

भावार्थ—कबीर साधक को सावधान करते हुए कहते हैं कि हे साधक ! तू अपनी स्थिति को प्राप्त हो गया तो कोई बड़ी बात नहीं हुई और तू अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया तो भी कोई बड़ी बात नहीं हुई, मायारूपी बेलि का अंकुर अब भी फूट सकता है।

१४६—शब्दार्थ—तूबड़ी—तूम्बा । जालण—जलाने के लिए । कूंपल—कोमल ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि जलाने के लिए जो लकड़ी लाई गई थी वह पुनः पल्लवित होने लगी अर्थात् जिस मन को संयम से मारा था, वह पुनः विषयों में प्रवृत्त होने लगा। इस अवस्था में इस संसार सागर के पार जाने के लिए न बेलि है न तूंबा—कोई सम्बल नहीं।

विशेष—तैरने के लिए तूंबे आदि का सहारा लिया जाता है।

१४७—शब्दार्थ—अण व्यावर—बिना व्याई । ससा—खरगोश । धूनहड़ी—बाजा ।

भावार्थ—यह माया रूपी बेल संसार रूपी आँगन में उगी है, लेकिन इसका फल स्वर्ग में लगता है, अर्थात् माया रूपी बेलि को जला दिया जाय तो स्वर्ग में चल कर ईश्वर रूपी फल की प्राप्ति होगी। यह कथन सुनने में उसी प्रकार असम्भव प्रतीत होता है जिस प्रकार बिना व्यायी हुई गाय से दूध की आशा रखना, खरगोश के सींग से बाजा बनाना और बन्ध्या स्त्री के पुत्र का खेलना।

साखियाँ—१४८ से १५० तक '**अबिहड कौ अंग**' से ली गई हैं।

१४८—शब्दार्थ—खेलिस्यू—खेलता हूँ । कदे—कभी भी ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मैंने अपना साथी उस पारब्रह्म परमात्मा को बनाया है जिसे सुख-दुःख व्याप्त नहीं होते। यही कारण है कि मैं उसके साथ हिल-मिल कर नित्य-प्रति खेलता हूँ और मेरा उस से कभी भी विछोह नहीं होता। अर्थात् मैं प्रतिपल ईश्वराधना में लीन रहता हूँ।

१४९—सरल है।

१५०—शब्दार्थ—मधि—मध्य। अबिहड़—एकरस। अभंग—अखंड। सेवग—सेवा।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि वह एकरस रहने वाला ब्रह्म सृष्टि के जन्म, विकास और अन्त—तीनों अवस्थाओं में अखण्ड रहता है। मनुष्य को उस ब्रह्म की सेवा और उसके ध्यान को कभी भी नहीं त्यागना चाहिए।

पद :

(१)

कबीर ने इस पद में आत्मा से अपना सम्बन्ध वैवाहिक रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है।

शब्दार्थ—मंगलचार—विवाह-संस्कार के समय मंगल-गायन। रत—अनुरक्त। पंचतत—क्षिति, जल, अग्नि, आकाश और वायु ये पाँच तत्व जिनसे शरीर की सृष्टि होती है। पाहुनै आए—अतिथि बनकर आए हैं। भाँवरी—विवाह-वेदी के चारों ओर फिरी गई सात परिक्रमाओं से तात्पर्य है जिनसे सम्बन्ध पक्का मान लिया जाता है। तेतीसूं कौतिग—तेतीसौ करोड़ रहस्य।

(२)

नाथ-पंथियों के हठयोग के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति के लिए साधना के रूपक द्वारा कबीर ने कहा है कि मैं उस परम पद का लाभ समाधि द्वारा कर रहा हूँ।

शब्दार्थ—दुहु के बीच समाधिया—मूलाधार चक्र से होकर स्वाधिष्ठान चक्र में कुण्डलिनी को पहुँचाने के लिए लगाई गई समाधि। अष्ट कँवल—सुरति कमल। श्रीरंग—ईश्वर। अक्यारथ—निष्प्रयोजन। कदली—केले के समान रीढ़ की हड्डी। कुसमदल—नाड़ियों का बिछा हुआ पुष्पवत् जल। बीच—दूरी। दुवादस—बारहदलों वाला कमल। नीझर—अमृत। मघ जोइये—संसार की ओर पुनः देखना। बिजुरी चमकि—अनन्त काशगत परमात्मा की ज्योति रूपी विद्युत। घन—अनहदनाद। चेतिया—प्राप्त करके। जरामरण—जन्म और मृत्यु। पुनरपि जनम निकारी—पुनर्जन्म से मुक्ति। झंपि—प्रयत्न। देखिए परिशिष्ट—(क)।

(३)

साधना से सांसारिक बन्धन टूट जाते हैं और परमपद की प्राप्ति प्रतीत होती है। उसी साधना की प्रक्रिया का सम्यक् वर्णन इस पद में है।

शब्दार्थ—बीज अंकुर—विषय-वासना के अंकुर और बीज। लागी जोग जुगतारी—योग-साधना में प्रवृत्त हो गया।

(४)

कबीर ने इस उलटवाँसी में परमात्मा-प्राप्ति की साधना का वर्णन किया है। उन्होंने यहाँ आत्मा को ही परमात्मा माना है।

शब्दार्थ—अवधू—अवधूत। पांडी—नष्ट हो गई। राता—अनुरक्त हो गया, लीन हो गया। बनकै-ससै—संसार रूपी वन में विचरने वाला चंचल मनरूपी खरगोश। समंद—शून्य रूपी समुद्र। वाड़ी—खेती। मंछा—मछली (आत्मा)। नाकै—छेद।

(५)

ज्ञान-प्राप्ति के बाद समस्त मोह-जन्य विकार विनष्ट हो जाते हैं और साधक को ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। इस रूपक द्वारा यही बात स्पष्ट की गई है।

शब्दार्थ—टाटी—झोंपड़ी। थूनी—भावना रूपी दो खम्भे जिन पर झोंपड़ी खड़ी रहती है। बलींड़ा—जिसे बाती कहा जाता है वह छप्पर को पुष्ट और अधिक स्थायी बनाने के लिए फूँस का ही एक लम्बा मोटा बटा हुआ भाग। बूठा—बरसा। षींना—क्षीण।

(६)

बाह्य प्रयासों से (तीर्थ इत्यादि से) ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती अपितु आत्मा की शुद्धि और साधना से ही यह संभव होती है।

शब्दार्थ—सरल है।

(७)

हठयोग की प्रक्रिया और साधना से रूपकों से ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग कबीर ने यहाँ बताया है। देखिए, परिशिष्ट (क)।

शब्दार्थ—पंच पियारियाँ—पंच ज्ञानेन्द्रियाँ। सुनि—शून्य। नेहरों—पीहर। दोऊ कुल—पितृ और श्वसुर कुल अर्थात् लोक और परलोक। मूल काल—मूलाधार चक्र। अरधउरध—इड़ा-पिंगला। त्रिवेणी—त्राटक। कनिहवार—पतंगा। देखिए परिशिष्ट (क)।

(८)

संसार में तनिक सी भी असावधानी पर समस्त गठरी-पोटली लुट जाने की

संभावना है अतः कबीर अपने मन को प्रबोधते हुए कहते हैं कि तू असावधान कभी मत होना।

शब्दार्थ—गाफिल—चेतना-हीन। बसन—पूंजी। मुसै—चोरी से सामान उठा ले जाना। चोर—माया रूपी चोर। उघड़त—रहस्य खुलने में। पंच पहरण—पाँच ज्ञानेंद्रियाँ। बसतै—कुण्डलिनी। गगन मंडल—शून्य। मन ही मन विचार करना—अन्तुर्मुखी चिन्तना।

(९)

ब्रह्म के नाम मात्र लेने से ही मुक्ति सम्भव नहीं, उसके लिए तो ज्ञान-प्राप्ति और साधना आवश्यक हैं। तभी ईश्वर से मिलन सम्भव हो सकता है अन्यथा नहीं।

शब्दार्थ—धागा—जीवन-सूत्र। गगन बिनसि गया—शरीर समाप्त हो जायेगा। सबद—गुरूपदेश। संसा—संशय। प्यंड—पिंड। पद में समाता—ब्रह्म में आत्मा का विलीन होना।

(१०)

मन के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। कबीर ने इस पद में यही कहा है।

शब्दार्थ—सरल है।

(११)

केवल नामोच्चारण से ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती उसके लिए साधना की आवश्यकता रहती है। कबीर ने बाह्य-साधनों का विरोध किया है। इसमें तत्कालीन तथाकथित ईश्वर-भक्तों पर आक्षेप भी है।

शब्दार्थ—सरल है।

(१२)

मृत्यु आत्मा की कभी नहीं होती वरन् अहं गिर जाता है और मृत्यु के बाद आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाती है। परमात्मा ही समस्त कण-कण में रमा हुआ है।

शब्दार्थ—बलाइ—अहंकार।

(१३)

जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नर्क की धारणाओं को कबीर गलत बताते हुए उन्हें कोरे विश्वास की बात मानते हैं। वस्तुतः वे आत्मा की परमात्मा में विलीनता के प्रतिपादक हैं।

शब्दार्थ—अविगत—ब्रह्म । थै—से । उतपनां—उत्पन्न । गणना—परमात्मा । संक—शंका ।

(१४)

कबीर के मतानुसार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है । संसार के विभिन्न पदार्थ उसी ब्रह्म के प्रकाश-स्वरूप हैं ।

शब्दार्थ—औरनि—दृश्यमात्र नाना रूपात्मक जगत के समस्त पदार्थों में ।

(१५)

ब्रह्म अनेक नहीं एक ही है, ऐसा कबीर मानते हैं । 'एक ब्रह्म द्वितीयो नाऽस्ति' का प्रतिपादन है ।

शब्दार्थ—दोह—द्वैत-भाव । दोजग—नरक । बाढ़ी—बढ़ई । अर्थ—दान । गरबाना—घमण्ड किया ।

(१६)

विभिन्न धर्मावलंबियों ने बाह्य साधनों यथा नमाज पढ़ना, मक्का-मदीना जाना, तीर्थाटन आदि को भक्ति के साधन बना रखे हैं । कबीर का उनके प्रति अविश्वास है । वे तो आत्म-ज्ञान को प्रमुख मानते हैं । यहाँ मुसलमानों से उन्होंने अपनी इसी बात को कहा है ।

शब्दार्थ—निवाजा—नमाज । मसीति—मस्जिद । बिसमल—विस्मृत करदे । तामस—तामसी वृत्तियाँ । पंचूँ—पाँच इन्द्रियाँ ।

(१७)

जीव को अपनी यथार्थ-स्थिति अवगत नहीं है । वह ईश्वर के अति निकट रहकर भी अपने को उससे विलग समझे हुए है । कबीर इसी वास्तविक स्थिति का वर्णन इस पद्य में कर रहे हैं ।

शब्दार्थ—उदिक—पानी । हमारे जाने—हमारे विचार से ।

(१८)

ईश्वर-प्राप्ति का साधन-पथ अत्यन्त कठोर है । कुछ ही ऐसे हैं जो उस पर चल पाते हैं । जो चलते हैं वे ही उस पद को प्राप्त करने में सफल होते हैं ।

शब्दार्थ—सरल है ।

(१९)

कबीर हठ-योगियों को संसार से विभिन्न और सबसे अलग मानते हैं ।

शब्दार्थ—नाद न पंडै धारा—अनहदनाद से सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता। दुनीं—दुनियाँ।

(२०)

परमात्म-पद प्राप्ति के क्या-क्या आनन्द हैं ? इन्हीं का ब्यौरा यहाँ दिया गया है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२१)

कबीर ने मदिरा खींचने की प्रक्रिया के रूपक के द्वारा हठयोग की साधना से ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग बताया है।

शब्दार्थ—दोइ पुड़—इंड़ा-पिंगला से तात्पर्य है। काहै—रहती है।

(२२)

सृष्टि में समस्त पदार्थ आनन्द-विभोर होकर नाच रहे हैं। ऐसी अवस्था में कबीर भी अपने मन से नाचने के लिए कहते हैं।

शब्दार्थ—सरल है।

(२३)

परमात्मा हृदय में ही विद्यमान है। मूर्ख लोग बाहर उसे खोजते हैं। कबीर ने कुछ उदाहरणों के माध्यम से इसी बात को स्पष्ट किया है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२४)

ईश्वर से जीव का अटूट सम्बन्ध है। कबीर के साधक को अपनी साधना में विश्वास है, अतः वह बड़ी आस्था से उन्हें अटूट घोषित कर रहा है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२५)

जीवात्मा और परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा अभिन्न है फिर भी माया और अज्ञान के वशीभूत आत्मा को अलगाव दृष्टिगोचर होता है। कबीर इस माया और अज्ञान की स्थिति के परित्याग के लिए कहते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि ज्ञान बिना गुरुपदेश असम्भव है।

शब्दार्थ—सरल है।

(२६)

प्रभु के भक्ति रूपी रस का पान कर अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। कबीर जीव को यही उपदेश करते हैं।

शब्दार्थ—सरल है।

(२७)

यहाँ जीव की निर्मलता का प्रतिपादन करते हुए कबीर माया पर दोषारोपण करते हैं कि यही जीव को ईश्वर से मिलने नहीं देती।

शब्दार्थ—सरल है।

(२८)

यह जन्म दूसरों की धरोहर है या उसने उधार दे रखा है। उसे चुकता करना या उसका सही उपयोग करना हमारा अपना धर्म है अन्यथा हमें इसके बहुत कठोर और अहितकर परिणाम भोगने पड़ेंगे। गुरु ही एक ऐसा माध्यम है जो इसके प्रति हमें सही मार्ग दिखा सकता है।

शब्दार्थ—कलतर—कल तक। खोट—कलुष, बुराई। चार लाख अरु असी—चौरासी लाख योनियाँ। कीरमें—पूरा किया। लगनियाँ—जमानती।

(२९)

भक्त का आत्मनिवेदन उलहना के साथ इस पद में दृष्टिगोचर होता है।

शब्दार्थ—गोव्यंदे—गोनिन्द, प्रभु। दाभितैं—झुलसते हुए। तकाई—ताकी, देखी। सन्यणऊँ—शान्ति प्राप्त करूँ। सानाई आयो—शरण में आया हूँ।

(३०)

कबीर अपने मन को संबोधित करके कहते हैं कि तू पागलपन छोड़कर ईश्वर-भक्ति में लीन हो जा।

शब्दार्थ—डगमग—चंचल। बौरा—पागल। जरै-बरै—जैसे भी हो। सिंधौरा—खांड़ा। सती न सँचै भाड़ौं—सती स्त्री बर्तन भाड़ों को नहीं एकत्र करती; उसकी सम्पत्ति तो उसका पति परमेश्वर ही होता है, अर्थात् सती स्त्री मोह नहीं करती। फाँसी—गले में पड़ा एक फंदा। (यहाँ मर्यादा में बाँधने वाली वस्तु है)।

(३१)

ईश्वर की भक्ति को कामधेनु मानकर कबीर ने इसके समक्ष सभी सांसारिक आकर्षणों को हेय और तुच्छ स्वीकार किया है। इसके आगे सभी निष्प्रभ और विनष्ट हो जाते हैं—

शब्दार्थ—भांडा—मिथ्यांडम्बर रूपी बर्तन । व्यावै—संतानवती हो अर्थात् माया की ओर उन्मुख हो जाय । ग्यावण—संतान को उदरस्थ किये हुए अर्थात् शान्त गम्भीर बनी हुई । ग्वाड़ा—ग्वाला ।

(३२)

माया के वश में होकर जीव अज्ञान में पड़ जाता है । यहाँ कवि ने माया को ठगिनी के रूप में बताया है ।

शब्दार्थ—तिरगुन—सत्व, रजस और तमस तीन गुण ।

(३३)

एक ही ब्रह्म मनुष्यों में व्याप्त है, अतः नर और नारी विप्र और शूद्र में अन्तर करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं है । अतः मनुष्यों में परस्पर अन्तर करना उचित नहीं है ।

शब्दार्थ—मांही—मैं । गैब-पुरुष—कोई अन्य अद्भुत पुरुष ।

(३४)

कबीर साधन और माया के परस्पर संघर्ष का चित्रण कर कहते हैं कि साधक साधना मार्ग पर चलकर इतना सबल हो गया है कि वह माया रूपी सिंह को मार ही गिराता है ।

शब्दार्थ—हसती—हाथी । पेषै—देखना । सांपणि—सर्पिणी (यहाँ माया से तात्पर्य है) । ऊषण्यां—उखाड़ लिया । सुरभी—गाय । सारदूलहि—सिंह सर—बाण ।

(३५)

कबीर कहते हैं कि साधना के द्वारा उन्होंने उस परम तत्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है ।

शब्दार्थ—पुहुप—फूल । भवरा एक राता—प्रेम में मस्त भ्रमर ।

(३६)

प्रभु-भक्ति का महत्व स्वीकार करने पर मन के सारे कलुष अहंभाव में तिरोहित हो जाते हैं और तभी जीव को परमपद प्राप्त होता है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

(३७)

संसार की छल-छद्मवादिता और निस्सारता की ओर यहाँ संकेत है ।

शब्दार्थ—ऊधट—ऊँट पटांग रास्ता अर्थात् कुण्डलिनी की ऊर्ध्व-जैबड़ी—मायारूपी रस्सी। अछते—होते हुए भी।

(३८)

मैं मेरा अर्थात् स्वार्थ भाव में लीन इस संसार से मुक्ति के लिए आत्म-ज्ञान श्यक है। इस पद में यही कबीर कहना चाहते हैं।

शब्दार्थ—पषा-पषी—मैं मेरा तू-तेरा, तात्पर्य स्वार्थ भाव। षर—ग सच—शांति।

(३९)

कबीर की यह विनयोक्ति है। वे ईश्वर की माया के रहस्य को नहीं जान अतः उनका अपराध क्षम्य है। यही निवेदन वे अपने परमात्मा (राम) से रहे हैं।

शब्दार्थ—बरियाई—हठधर्म्यता, बापुजोरी। बपरौ—बेचारा। बिगूने विनष्ट हो गये। विषम—आसानी से समझ में न आ सकने वाली।

(४०)

कुण्डलिनी से ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। दे परिशिष्ट (क)।

शब्दार्थ—गगन—शून्य। जोति—ज्योति स्वरूप ब्रह्म। भँवर गुफा—ब्र रन्ध्र। त्रिकुटी—आँख नाक और मस्तिष्क का सन्धि-स्थल, भौंहों के बीच का स्था नाम कँवल—मणिपूरक चक्र।

(४१)

कबीर गेरुआ वस्त्रधारी साधुओं से कहते हैं कि बिना साधना के ईश्वर-प्रा नितान्त असम्भव है, अतः साधना करो ढोंग छोड़ दो।

शब्दार्थ—जन्त्र—वाद्य। ज्यूँ—जिससे। आवागमन—जन्म-मृत्यु का चक्र तत—परम तत्व। सारि—पुट। निहचल—दृढ़ और एकाग्र। प्यंड—शरीर। का —व्यर्थ, निष्प्रयोजन।

(४२)

संसार की आपत्तियों को बताते हुए अबीर अपने प्रभु से निवेदन करते हैं कि मैं अब इस संसार में रहना नहीं चाहता।

शब्दार्थ—जीव धरमहता—जीवों के धर्म विनष्ट हो गए हैं। स्वामी—काल